गांधी-विचार-दोहन

किशोरलाल मशरूवाला

गांधी-विचार-दोहन

—गांधीजी की सम्मति सहित—

किशोरलाल घ० मशरूवाला

●

अनुवादक
'आनंदवर्धन'

●

१९६८
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तंड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

दसवीं बार : १९६८
मूल्य

मुद्रक
न्यू एरा आफसेट प्रिंटर्स
दिल्ली

जिसकी प्रेम और चिंतायुक्त शुश्रूषा बिना
यह पुस्तक लिखना और पूरी करना कठिन
हो जाता, उस प्रिय सहधर्मचारिणी
—सौभाग्यवती गोमती को—

सम्मति

इस 'विचार-दोहन' को मैंने पढ़ लिया है। भाई किशोरलाल को मेरे विचारों का परिचय असाधारण है। जैसा परिचय है, वैसी ही उनकी ग्रहणशक्ति भी है। इसलिए मुझे इसमें थोड़ी जगह ही फेर-फार करना पड़ा है। हम दोनों में बहुतेरे विषयों में विचारों का ऐक्य होने से, हालांकि इसमें भाषा भाई किशोरलाल की है, फिर भी प्रत्येक प्रकरण के लिए अपनी सम्मति देने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। बहुत-से विषयों का समावेश थोड़े में भाई किशोरलाल कर सके हैं, यह इस दोहन की विशेषता है।

बोरसद
२५-५-३५

—मो० क० गांधी

निवेदन

इस छोटी-सी पुस्तक की उत्पत्ति का कारण है विले पार्ले का गांधी-विद्यालय। इस विद्यालय में देहात में जाकर लोक-सेवा करने की इच्छा रखनेवाले नवयुवकों की शिक्षा के लिए एक वर्ग रखा गया था, जिसमें ज्यादातर महाराष्ट्रीय विद्यार्थी थे। गांधीजी के विचार और लेख गुजरात को जितने परिचित हैं, उतने महाराष्ट्र को नहीं हैं। इसलिए इस विद्यालय के पाठचक्रम में 'गांधीजी के सिद्धांत और विचारों का परिचय' भी एक विषय था। यह विषय मुझे सौंपा गया था और उसके सिलसिले में जो तैयारी करनी पड़ी थी, उसीमें से इस पुस्तक का जन्म हुआ।

उसके बाद इस पुस्तक की योजना के विषय में काकासाहब से चर्चा की और यह उनको पसंद आगई। इस चर्चा में यह भी तय हुआ कि जैसे ही इसके अध्याय एक-एक करके लिखे जायं, वैसे ही वे क्रमश: गांधीजी के पास भेज दिये जायं तथा वह उनको जांचकर और सुधारकर प्रमाणपत्र दें, ताकि गांधीजी की समूची विचार-प्रणाली उपस्थित करनेवाली एक पुस्तक तैयार हो जाय।

गांधीजी ने यह स्वीकार भी किया; परंतु देश में और विलायत में काम के बोझ के कारण यह पूरी पुस्तक देखने के लिए समय नहीं मिल पाया। इसके उपरांत ता० ४ जनवरी, १९३२ को वह पकड़े गये। अत: पहला संस्करण उनके संशोधनों के बगैर ही छपवाना पड़ा था। परंतु अब तो इस सारी पुस्तक को गांधीजी ने ध्यान से पढ़कर उसमें संशोधन किया है; यह प्रकट करते हुए संतोष और आनंद होता है। उनके किये हुए सारे सुधार पुस्तक में समाविष्ट कर लिये गये हैं। परंतु उनके उपरांत स्वयं मैंने तथा मेरे साथियों ने पुस्तक को फिर से गौर से पढ़ा है। भाषा और रचना में कतिपय सुधार करके कुछ नये अध्याय लिखे हैं, अथवा कुछ एक पुराने

फिर नये सिरे लिखे हैं और उनके जोड़े जाने के बाद भी गांधीजी ने इसे दुबारा जांचा है। इस पुस्तक में गांधीजी के लेखों के अवतरण थोड़े ही हैं। यह उनकी भाषा या शब्दों का दोहन नहीं कहा जा सकता। कहीं-कहीं पाठक के चित्त में यह भी खयाल आ सकता है कि "ऐसा तो गांधीजी के लेखों में कहीं देखने में नहीं आया।" अर्थात् यथार्थ में, जिस प्रकार मैंने गांधीजी के हृदय एवं विचारों को समझा है, उन्हें मैंने अपने ढंग से और अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है। अतः यद्यपि गांधीजी ने इसे पढ़ लिया है, तथापि इसकी प्रमाणभूतता उनके खुद के लेखों-जैसी नहीं मानी जा सकती।

गांधीजी द्वारा प्रेरित इस युग में अनेकानेक छोटी-बड़ी संस्थाएं अस्तित्व में आई हैं और उनमें अनेक कार्यकर्ता नाना प्रकार की रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे हैं। फिर, आत्मशुद्धि तथा स्वराज्य प्राप्ति के लिए लालायित जनता का भी बहुत बड़ा समुदाय गांधीजी के विचारों को झेलने का प्रयत्न कर रहा है। उन सबके लिए उपयोगी तथा पथ-प्रदर्शक होने के योग्य सोलह आने प्रमाणभूत न होते हुए भी ऐसा कहने में कोई हर्ज नहीं है कि यह पुस्तक आज की समस्याओं तथा सिद्धांतों के विषय में गांधीजी की विचार-प्रणाली यथार्थ रूप में प्रस्तुत करनेवाली है।

श्री गोकुलभाई भट्ट अगर गांधी-विद्यालय खोलने का हठ न करते और अगर काकासाहब ने उस हठ का अनुमोदन न किया होता, तो संभव है कि इस पुस्तक की कल्पना ही नहीं आती। अतः उन दोनों का और स्वामी आनंद का—जिन्होंने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के समय मुझे अमित प्रोत्साहन दिया था, उनका—मैं आभार मानता हूं।

जो गांधीजी के लेखों में स्पष्ट-रूप से नहीं पाया जाता, ऐसा बहुत-कुछ इस पुस्तक में है, ऐसा कुछ लोगों को प्रतीत होता है। कहीं-कहीं कुछ लोगों को यह भी शंका आयेगी कि क्या यह गांधीजी की किसी अंतरंग मंडली की चर्चा में से लिया गया है? मैं यह बतला देना चाहता हूं कि ऐसा कुछ नहीं है। मैं यह मानता हूं कि किसी भी सत्पुरुष के विचार केवल उसकी पुस्तकों के अध्ययन से पूर्ण रूप से नहीं जाने जा सकते: उसका

सत्संग ग्रावश्यक है। परंतु सत्संग के वाद भी उसका हृदय समझने का तथा उसकी समूची विचार-प्रणाली की तह में पैठने का प्रयास करना चाहिए। यह मूलतत्व हाथ लगे, तो उसकी सारी विचार-सृष्टि, जिस प्रकार भूमिति में एक सिद्धांत में से दूसरा निकलता है, ठीक उसी तरह देख पड़ेगी। गांधीजी को समझने का मेरा प्रयत्न इस प्रकार का है। वह कहां तक सफल हुग्रा है, यह तो गांधीजी तथा मेरी तरह उनके निकट सहवास में रहनेवाले मेरे दूसरे भाई-वहन ही कह सकेंगे।

यह पुस्तक लिखने के प्रयत्न के कारण मैं स्वयं ही गांधीजी के विशेष स्पष्टरूप से दर्शन कर सका हूं; ग्रर्थात् मुझे यह प्रयत्न वहुत लाभकारी हुग्रा है, ग्रतः ग्राशा है कि पाठकों को भी यह पुस्तक लाभकारी ग्रवश्य होगी।

ग्रंत में, जिनके विचारों का दोहन करने का यह प्रयत्न किया है ग्रौर जिनके प्रेम ग्रौर समागम से सदा के लिए ग्रनुगृहीत हो गया हूं, उन पूज्य वापू के श्रीचरणों को विनयपूर्वक प्रणाम करता हूं।

किशोरलाल घ० मशरूवाला

विषय-सूची

गांधी-विचार-दोहन

खंड १ : : धर्म

१

परमेश्वर

१. परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र उचित ध्येय है। जीवन के दूसरे सब कार्य ध्येय सिद्ध करने के लिए होने चाहिएं।

२. जो प्रवृत्तियां इस ध्येय की विरोधी मालूम हों, स्थूल दृष्टि से उनका फल कितना ही ललचानेवाला और लाभदायक जान पड़े, तो भी उन प्रवृत्तियों को त्याज्य समझना चाहिए।

३. जो प्रवृत्ति इस ध्येय की साधना भूतजान पड़े, वह कितनी ही कठिन, जोखिमभरी और स्थूल दृष्टि से हानिकर प्रतीत हो, तो भी अवश्य कर्त्तव्य है।

४. परमेश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है। उसके विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि परमेश्वर अनंत, अनादि, सदा एकरूप रहनेवाला, विश्व का आत्मस्वरूप अथवा आधार-रूप और विश्व का कारण है। वह चैतन्य अथवा ज्ञानस्वरूप है। एकमात्र उसीका सनातन अस्तित्व है। शेष सब नाशवान हैं। अतः एक छोटे-से शब्द से समझने के लिए हम उसे 'सत्य' कह सकते हैं।

५. इस प्रकार परमेश्वर ही सत्य है, और सत्य परमेश्वर है।

६. यह ज्ञान सत्यरूपी परमेश्वर की निर्गुण भावना है।

७. जो कुछ मुझे आज ऐसा धर्म्य, न्याय्य और योग्य प्रतीत होता है कि उसे करते, स्वीकार करते या प्रकट करते मुझे शर्म नहीं लगती, जो मुझे

करना ही चाहिए और जिसे न करूं तो इज्जत के साथ जी ही न सकूं, वह मेरे लिए सत्य है। वही मेरे लिए परमेश्वर का सगुण रूप है।

८. सत्य की अविश्रांत खोज किये जाना, तथा जैसा और जितना सत्य जान पड़ा हो,उसका लगन के साथ आचरण करना—इसीका नाम सत्याग्रह है, और यह परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन-मार्ग है।

९. सत्य अनंत और विश्व अपार होने के कारण इस खोज का कभी अंत नहीं आता। यों देखने पर जान पड़ता है कि परमेश्वर का संपूर्ण साक्षात्कार होनेवाली बात नहीं है। साधक को चाहिए कि इससे उलझन में न पड़े और न उस अपार को चाहे जहां विलोने बैठ जाय। बल्कि उसे अपने जीवन में जो बड़ी या छोटी, महत्वपूर्ण या तुच्छ-सी दिखाई देनेवाली प्रवृत्तियां अथवा क्रियाएं करनी पड़ती है, उन्हींमें वह सत्य को ढूंढ़े और उसके प्रयोग करे, तो 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे' न्याय से उसे सत्य मिलकर रहेगा।

१०. अपने आसपास प्रवर्तित असत्य, अन्याय या अधर्म के प्रति उदासीन भावना रखनेवाला व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। सत्य के शोधक को इस असत्य, अन्याय और अधर्म के उच्छेद के लिए तीव्र पुरुपार्थ करना होता है और जबतक इनका सत्यादि साधनों से उच्छेद करने में वह सफल नहीं होता,तबतक अपनी सत्य की साधना को अपूर्ण ही स[illegible] है। अतः असत्य, अन्याय और अधर्म का प्रतिकार भी सत्याग्रह का आवश्यक अंग है।

११. सभी धर्म कहते हैं, इतिहास भी गवाही देता है और अनुभव में भी आता है कि असत्य, हिंसा आदि से युक्त साधनों से इस सत्य की खोज करना असंभव है। उसी प्रकार संयम, व्रत, उपासना आदि से चित्त को शुद्ध करने का प्रयत्न किये विना भी इसका ज्ञान नहीं होता। इसलिए आगे बतलाये जानेवाले व्रतादि ईश्वर-साक्षात्कार के अनिवार्य साधन माने गये हैं।

२

सत्य

१. सत्य अर्थात् परमेश्वर—यह सत्य का पर अथवा उच्च अर्थ है। अपर अथवा साधारण अर्थ में सत्य के मानी हैं सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म।

२. जो सत्य है, वही दूर की दृष्टि से हितकर अथवा भला है, इसलिए सत्य अथवा सत् का अर्थ भला भी होता है। और सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म जो वस्तु है वही सदाग्रह, सद्विचार, सद्वाणी और सत्कर्म हैं।

३. जिन सत्य और सनातन नियमों द्वारा विश्व का जड़-चेतन विधान चलता है उनकी अविश्रांत खोज करते तथा उनके अनुसार अपना जीवन बनाते रहना और असत्य का सत्यादि साधनों द्वारा प्रतिकार करना सत्याग्रह है।

४. जो विचार हमारी राग-द्वेष-रहित, निष्पक्ष तथा श्रद्धा और भक्ति-युक्त बुद्धि को सदा के लिए, या जिन परिस्थितियों को हमारी दृष्टि देख सकती है उनमें जितने लंबे समय के लिए संभव हो, उचित और न्याय्य प्रतीत हो, वह हमारे लिए सत्य विचार है।

५. जो वाणी तथ्य को जैसा वह जानती है ठीक वैसा ही, कर्तव्य होने पर सामने रखती है और उसमें ऐसी कमी-बेसी करने का यत्न नहीं [illegible] जिससे दूसरा अर्थ भासित हो, वह सत्यवाणी है।

६. विचार से जो सत्य जान पड़े उसीके सविवेक आचरण का नाम सत्कर्म है।

७. पर सत्य जो परमेश्वर है, उसे जानने को अपर सत्य साधन है यह कहिये, अथवा सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म की—अर्थात् अपर सत्य के पालन की—पूर्ण सिद्धि ही परमेश्वर का साक्षात्कार है, यह कहिये; साधक के लिए दोनों में कोई भेद नहीं है।

३

अहिंसा

१. साधारणतः लोग सत्य मानी 'सत्यवादिता'—सच बोलना, इतना ही स्थूल अर्थ लेते हैं। परंतु सत्य वाणी में सत्य के पालन का पूरा समावेश नहीं होता। ऐसे ही सामान्यतः लोग दूसरे जीव को न मारना, इतना ही अहिंसा का स्थूल अर्थ करते हैं; पर केवल प्राण न लेने से ही अहिंसा पूरी नहीं होती।

२. अहिंसा आचरण का स्थूल नियम मात्र नहीं है, बल्कि मन की वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं द्वेष की गंध तक न हो वह अहिंसा है।

३. ऐसी अहिंसा सत्य के बराबर ही व्यापक है। इस अहिंसा की सिद्धि हुए बिना सत्य की सिद्धि होना अशक्य है। इसलिए सत्य को भिन्न रीति से देखें, तो वह अहिंसा की पराकाष्ठा ही है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में भेद नहीं है; फिर भी, समझाने के सुभीते के लिए, सत्य साध्य और अहिंसा साधन मान ली गई है।

४. ये—सत्य और अहिंसा—सिक्के की दो पीठों की भांति एक ही सनातन वस्तु के दो पहलुओं के समान हैं।

५. अनेक धर्मों में जो 'ईश्वर प्रेमस्वरूप है' यह कहा गया है, वह प्रेम और यह अहिंसा भिन्न नहीं है।

६. प्रेम का शुद्ध व्यापक स्वरूप अहिंसा है। पर जिस प्रेम में राग या मोह की गंध आती हो, वह अहिंसा नहीं हो सकता। जहां राग-मोह होता है, वहां द्वेष का बीज भी होगा ही। प्रेम में बहुधा राग-द्वेष पाये जाते हैं। इस-लिए तत्वज्ञों ने प्रेम शब्द का प्रयोग न कर अहिंसा शब्द लिया और उसे परम धर्म बतलाया।

७. दूसरे के शरीर या मन को पीड़ा न पहुंचाना, इतना ही अहिंसा-धर्म नहीं है; हां, साधारणतः इसे अहिंसा-धर्म का बाह्य लक्षण कह सकते हैं। दूसरों के शरीर या मन को स्थूल दृष्टि से दुःख या क्लेश पहुंचता जान पड़ता

हो तो भी उसमें शुद्ध अहिंसा-धर्म का पालन होता हो, यह संभव है। दूसरी ओर यह हो सकता है कि इस प्रकार दुःख या पीड़ा पहुंचाने का दोष लगाने लायक कुछ न करने पर भी किसी आदमी ने हिंसा की हो। अहिंसा का भाव दिखाई देनेवाले परिणाम में ही नहीं है बल्कि अंतःकरण की राग-द्वेष-रहित स्थिति में है।

८. तथापि दृष्टिगोचर लक्षणों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। कारण यह कि यद्यपि यह स्थूल साधन हैं फिर भी अपने या दूसरे के हृदय में अहिंसावृत्ति कितनी विकसित हुई है इसका इन लक्षणों से मोटा अंदाजा मिल जाता है। दूसरे प्राणी को उद्वेग न हो ऐसी वाणी और कर्म को देख कर ही साधारण जीवन में तो इस बात की प्रत्यक्ष परख हो सकती है कि उस व्यक्ति में अहिंसा कहांतक पोषित हुई है। अहिंसामय क्लेश देने के मौके जरूर आते हैं; पर उस समय उनमें विद्यमान अहिंसा स्पष्ट दिखाई देती है। जहां स्वार्थ का लेशमात्र भी है वहां पूर्ण अहिंसा संभव नहीं है।

९. पर इतने से अहिंसा की साधना पूरी हुई नहीं समझी जा सकती। अहिंसा का साधक केवल प्राणियों को उद्वेग पहुंचानेवाली वाणी न बोल-कर और कर्म न करके अथवा मन में भी उनके प्रति द्वेषभाव न आने देकर संतोष नहीं मानता; बल्कि वह जगत में फैले हुए दुःखों को देखने-समझने और उनके उपाय ढूंढ़ने का प्रयत्न करता रहेगा, और दूसरों के सुख के लिए स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहेगा। मतलब यह है कि अहिंसा केवल निवृत्ति-रूप कर्म या अक्रिया नहीं है, बल्कि बलवान प्रवृत्ति या प्रक्रिया है।

१०. अहिंसा में तीव्र कार्यसाधक शक्ति भरी हुई है। इसमें जो अमोघ शक्ति है उसकी अभी पूरी खोज नहीं हुई है। 'अहिंसा के समीप सारे वैर-द्वेष शांत हो जाते हैं', यह सूत्र शास्त्रों का प्रलाप नहीं है बल्कि, ऋषि का अनु-भव-वाक्य है। जाने-अनजाने, प्रकृति की प्रेरणा से, सब प्राणियों ने एक-दूसरे के लिए कष्ट उठाने का धर्म पहचाना है, और उसके आचरण द्वारा संसार को निभाया है। तथापि इस शक्ति का संपूर्ण विकास और सब कार्यों और प्रसंगों में इसके प्रयोग के मार्ग का अभी ज्ञानपूर्वक शोधन-संगठन नहीं हुआ

है। हिंसा के मार्गों के शोधन और संघटन करने का मनुष्य ने जितना दीर्घ उद्योग किया है, और उसका बहुत अंशों में शास्त्र बना डालने में सफलता पाई है, उतना यदि वह अहिंसा की शक्ति के शोधन और संघटन के लिए करे तो मनुष्य-जाति के दुःखों के निवारणार्थ यह एक अनमोल, अचूक और परिणाम में उभयपक्ष का कल्याण करनेवाला साधन सिद्ध होगा।

११. जिस श्रद्धा और उद्योग से वैज्ञानिक प्रकृति की शक्तियों की खोज करते हैं और उसके नियमों को विविध प्रकार से काम में लाने का प्रयत्न करते हैं, वैसी ही श्रद्धा और उद्योग से अहिंसा की शक्ति की खोज करने की और उसके नियमों को काम में लाने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

४

ब्रह्मचर्य

१. जैसे अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि संभव नहीं है, वैसे ही ब्रह्मचर्य के बिना सत्य तथा अहिंसा दोनों की सिद्धि अशक्य है।

२. ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म अथवा परमेश्वर के मार्ग पर चलना; अर्थात् मन और इन्द्रियों को परमेश्वर के रास्ते पर रखना।

३. रागादि विकारों के बिना अब्रह्मचर्य अर्थात् इंद्रियपरायणता नहीं हो सकती, और विकारी मनुष्य सत्य या अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकता अर्थात् वह आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता।

४. अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्यरक्षा अथवा कामजय मात्र नहीं है, बल्कि इसमें सभी इंद्रियों का संयम आवश्यक है।

५. पर जैसे सत्य का स्थूल अर्थ सत्य वाणी और अहिंसा का स्थूल अर्थ प्राण न लेना हो गया है वैसे ही ब्रह्मचर्य का अर्थ भी केवल काम को जीत लेना किया जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को कामजय ही सबसे कठिन इंद्रियजय जान पड़ता है।

६. वास्तव में जीवन के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए अन्य इंद्रियों का थोड़ा-बहुत भोग आवश्यक होता है। पर ब्रह्मचर्य से जीवन-निर्वाह अशक्य नहीं

होता, उलटा अधिक अच्छी तरह होता है और तेजस्वी होता है।

७. आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी को जीवन की पूर्णता तथा परमानंद प्राप्त करने की जितनी आशा और अनुकूलता है उतनी ब्रह्मचारी को नहीं है। ऐसे स्त्री-पुरुषों का जीवन अविवाहित और विवाहित दोनों के लिए दीप-स्तंभरूप है।

८. पर दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य आहार-विहार में अधिक स्वतंत्रता भोगता है और इससे वह समस्त इंद्रियों के भोग अधिक भोगता है। फलतः साल के कुछ खास दिनों में ही उसे कामवेग नहीं होता, बल्कि वह निरंतर उसका पोषण करता है। यों कामविकार उसका सब दिन का रोग बन जाने से उसे जीतना उसके लिए कठिन-से-कठिन हो गया है।

९. पर विचारशील मनुष्य देख सकता है कि दूसरी इंद्रियों को पोसे बिना काम को बहुत पोषण नहीं मिलता और दूसरी इंद्रियों को जीते बिना कामजय की आशा रखना व्यर्थ है।

१०. इस प्रकार प्रयत्न करनेवाले स्त्री-पुरुष के लिए ब्रह्मचर्य का पालन साधारणतः जितना समझा जाता है उतना कठिन नहीं है।

५

अस्वाद

इस प्रकार एक व्रत दूसरे व्रत को न्यौता देता है।

१. एक भी इंद्रिय स्वच्छंद बन जाय तो दूसरी इंद्रियों पर मिला हुआ काबू ढीला पड़ जाता है। उनमें भी, ब्रह्मचर्य की दृष्टि से, जीतने में सबसे कठिन और महत्व की इंद्रिय जीभ है। इसपर स्पष्ट रूप से ध्यान रहे कि इसके लिए स्वादजय को व्रतों में विशिष्ट स्थान दिया गया है।

२. शरीर में से छीज जानेवाले तत्वों को फिर पूरा करने और इस प्रकार शरीर को कार्य करने लायक स्थिति में रखने के लिए आहार की आवश्यकता है। इसलिए यह दृष्टि रखकर ही जितने और जिस प्रकार के आहार की जरूरत हो वही खाना चाहिए। स्वाद के लिए—अर्थात्

जीभ को रुचता है इसलिए—कुछ खाना या खुराक में मिलाना अथवा अधिक आहार करना अस्वाद-व्रत का भंग है।

३. अस्वाद-वृत्ति से चलनेवाले संयुक्त भोजनालय में जाकर वहां जो भोजन बना हो उसमें से जो हमारे लिए त्याज्य न हो उस आहार को ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसकी आलोचना किये बिना, संतोषपूर्वक और शरीर के लिए जितना आवश्यक हो उतना खा लेना, अस्वाद-व्रत में बहुत सहायक है।

६
अस्तेय

१. अस्तेय का अर्थ दूसरे के स्वामित्ववाली वस्तु को न लेना भर नहीं है। अपनी मानी जाती हो पर अपनेको उसकी जरूरत न हो, फिर भी हम उसका उपयोग करते हों तो यह भी चोरी ही है। दूसरों की चीज पर नजर बिगाड़ना मानसिक चोरी है। दूसरों के विचार अथवा खोज-शोध को जानकर अपनी बनाकर पेश करना विचार की चोरी है।

२. हम जगत की समस्त वस्तुओं पर परमेश्वर का स्वामित्व समझें और प्राणिमात्र को उनके कर्त्ता-हर्त्तापन में रहनेवाले एक विशाल कुटुंब-रूप समझें, तो जगत में से नितांत आवश्यक वस्तुओं पर के उपभोग का अधिकार हमें रहता है। उसपर इससे अधिक अधिकार मानना चोरी है।

७
अपरिग्रह

१. अस्तेय और अपरिग्रह में बहुत थोड़ा भेद है। जिसकी हमें आज आवश्यकता नहीं है उसे भविष्य की चिंता से संग्रह कर रखना परिग्रह है। परमेश्वर-विश्वास रखनेवाला यह मानता है कि जिस वस्तु की जब सच्ची आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायगी। इसलिए वह किसी चीज का संग्रह करने के फेर में नहीं पड़ता।

२. इसका अर्थ यह नहीं है कि जो शक्तिमान होते हुए भी श्रम नहीं करता उसकी भी आवश्यकताएं परमेश्वर पूरी करता है। जिसकी मेहनत करने की नीयत नहीं है, जो मेहनत को मुसीबत समझता है उसके अंदर तो यह विश्वास ही नहीं जमता कि परमेश्वर सबकी आवश्यकताएं पूरी करनेवाला है। वह तो अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही भरोसा रखता है। पर जो शक्ति होने पर पूरा-पूरा श्रम करता है और श्रम करने में ही प्रतिष्ठा समझता है किंतु अपरिग्रही रहता है, उसके निर्वाह की चिंता परमेश्वर करता है।

३. फिर इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज में रहकर इस व्रत का पालन करने की इच्छा करनेवाला मनुष्य अपने पास आई हुई वस्तुओं को रास्ते में डाल आये या खराब होने दे। वह अपनेको उन वस्तुओं का रक्षक समझे और उनकी पूरी हिफाजत रखे; पर पलभर के लिए भी अपनेको उनका मालिक न माने। अतः जिन्हें उनसे काम लेने की आवश्यकता हो उन्हें उनका इस्तेमाल करने देने में बाधक न हो। अपने या अपने बाल-बच्चों के काम आने के खयाल से जो एक चिथड़ा भी बटोर रखता है और दूसरे को जरूरत होते हुए भी इस्तेमाल नहीं करने देता वह परिग्रही है। जो ऐसी वृत्ति से रहित है उसकी गद्दी लाख रुपये की राशि पर लगती हो तो भी वह अपरिग्रही है।

८

शरीर-श्रम

१. जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने के हेतु स्वयं शारीरिक श्रम करना अस्तेय और अपरिग्रह में से निकलनेवाला सीधा नियम है। परिश्रम के बिना जो पदार्थ नहीं उपजते और जिनके बिना जीवन टिक नहीं सकता, उनके लिए स्वयं शारीरिक श्रम किये बिना उनका उपभोग करें तो जगत के प्रति हम चोर ठहरते हैं।

२. पारमार्थिक भाव से ऐसा श्रम करने का नाम यज्ञ है। अपने श्रम

से उत्पन्न पदार्थों का स्वयं ही उपभोग करने की अभिलाषा रखना सकाम कर्म कहलायेगा। वैसी अभिलाषा के बिना इतने पदार्थ जगत के लिए पैदा होने ही चाहिए, यह मानकर श्रम करना निष्काम कर्म है और वह यज्ञ है।

३. मैल, कूड़ा-करकट आदि अनर्थकारी पदार्थों की उचित व्यवस्था के लिए किया हुआ श्रम भी यज्ञ का ही एक प्रकार कहा जा सकता है। ऐसा श्रम हरएक को अवश्य करना चाहिए।

४. इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि हम सब जो पढ़े-लिखे कहलाते हैं वे अपनी मेहनत से जितना पैदा कर सकते हैं उससे बहुत अधिक पदार्थों का उपभोग करते हैं और बेकार का संग्रह कर रखते हैं। इसके सिवा अनर्थकारी वस्तुओं की उचित व्यवस्था के लिए तो हम शायद ही शारीरिक श्रम करते हों। इससे अनेक प्राणियों को तंगी और तकलीफ भुगतनी पड़ती है। यानी हम अस्तेय और अपरिग्रह-व्रत का पल-पल पर भंग करते हैं।

५. अतः हमारे लिए अस्तेयादि व्रतों की ओर आगे बढ़ने में जरूरी कदम यह है कि अपनी आवश्यकताओं और निजी परिग्रह को जितना हो सके उतना घटाते जायं, और उत्पादक श्रम तथा अनर्थकारी पदार्थों की समुचित व्यवस्था में निष्काम भाव और यज्ञबुद्धि से नियमपूर्वक जाती मेहनत के रूप में अपना भाग अर्पण करें।

६. इसके लिए आज की भारतवर्ष की स्थिति में कताई तथा मलमूत्र साफ करके इनकी उचित व्यवस्था करना आश्रम में यज्ञकर्म माना गया है। इसका अधिक विचार आगे होगा।

६

स्वदेशी

१. शरीर-श्रम के सिद्धांत में से ही स्वदेशी धर्म का उद्भव होता है।

२. अस्तेय और अपरिग्रह का आदर्श रखनेवाला मनुष्य दूसरे की मेहनत का लाचारी दरजे ही उपयोग करेगा।

अपना खाना पकाने, कपड़े धोने, मलमूत्र साफ करने, बरतन मांजने, हजामत बनाने, झाड़ू देने इत्यादि रोज के निजी कामों के खुद न करने में अथवा दूसरों से कराने में मान या प्रतिष्ठा है, यह समझकर दूसरों से इन्हें न करायेगा। पर अपनी असमर्थता या प्रेम के कारण अथवा अंगीकृत कार्यों में सुभीते की दृष्टि से हुए श्रम-विभाग के फलस्वरूप वह ऐसी सेवा ले सकेगा। उसमें अमुक काम बड़ा है, अमुक छोटा है, अमुक काम करनेवाला, केवल काम की किस्म के कारण ही, आदर का अधिकारी है और दूसरा तुच्छ है, इस भाव की गंध भी न होनी चाहिए।

३. ऊपर सूत्रों में बताया गया सिद्धांत आदर्शरूप है। साथीपन की इस भावना का विस्तार करने और जगत में व्यवहार की जो रीतियां प्रत्यक्षतः चल रही हैं उनका विचार करने से मालूम होता है कि हमारी कितनी ही आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कुटुंब या साथियों के साथ ही सहयोग-मूलक श्रम-विभाग कर लेना काफी नहीं होता, बल्कि पड़ोसियों और ग्राम-वासियों के साथ भी सहयोग और श्रम-विभाग करना पड़ता है। इसीमें स्वदेशी-धर्म की उत्पत्ति है।

४. स्वदेशी-व्रत केवल स्वदेशाभिमान के विचार में से नहीं उपजा है, बल्कि धर्म के विचार में से उपजा है। समग्र विश्व के साथ बंधुत्व की भावना के लिए हमारा प्रयत्न होते हुए भी, जिन पड़ोसियों के बीच हमारा जीवन दिन-रात गुजरता है, और अनेक विषयों में जिनके साथ हमारे संबंध जुड़े हुए हैं और जुड़ते रहते हैं, उन्हींके साथ हमारा पहला व्यवहार होना उचित है। ऐसे धर्म-युक्त व्यवहार की अवगणना करके विश्वबंधुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, केवल दिखावा भर होता है।

५. केवल राष्ट्रीयता की भावना से उपजा हुआ स्वदेशी का विचार विदेशियों के हित की उपेक्षा कर सकता है और उनका अहित करने के मौके की ताक में भी रह सकता है। धर्म-रूप स्वदेशी भावना स्वराष्ट्र का कल्याण साधते हुए भी परराष्ट्र का अकल्याण न चाहेगी, न करने की चेष्टा करेगी।

१०

अभय

१. जो मनुष्य अपने मन के विकारों के सिवा अन्य आपत्तियों का भय रखता है, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसलिए दैवी संपत्तियों में अभय पहला प्राप्त करने योग्य गुण है।

२. मौत, शरीर, क्लेश, मारकाट, धननाश, जुल्म और अत्याचार, मान-हानि, लोकनिंदा, काल्पनिक वहम, कुटुंब-क्लेश अथवा कुटुंबियों को दुःख होगा, यह विचार इत्यादि बीसों बातों से मनुष्य आमतौर पर डरता ही रहता है—डरनेवाला मनुष्य धर्माधर्म का गहरा विचार करने का साहस ही नहीं कर सकता। वह सत्य को खोज नहीं सकता और न खोजकर उसे पकड़े रह सकता है। इस प्रकार उसके द्वारा सत्य का पालन नहीं हो सकता।

३. मनुष्य के डरने की एक ही वस्तु है— अपना विकारी चित्त। ईश्वर का डर कहिये, अधर्म का डर कहिये या अपने विकार-रूपी शत्रु का डर कहिये, तीनों एक ही हैं। विकार न हों तो अधर्म नहीं हो सकता; और अधर्म न हो तो 'ईश्वर का डर' यह शब्द-प्रयोग ही अयुक्त हो जाता है।

११

नम्रता

१. नम्रता का गुण अहिंसा का ही एक अंश कहा जा सकता है। जहां अहंकार है वहां नम्रता की न्यूनता है; अहंकार सर्वात्मभाव नहीं रख सकता, इसलिए उसकी अहिंसा में कमी पड़ती है।

२. शून्यवत् हो रहना नम्रता की पराकाष्ठा है। मैं भी कुछ हूं, मुझमें कुछ विशेषता है—शरीर, मन, बुद्धि, विद्या, कला, चतुराई, पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, उदारता, व्रतपालन अथवा स्वयं विनयादि गुणों के विषय में भी ऐसा भान रहना और इससे अपना अस्तित्व ऐसा जान पड़ना—जैसे कोई बोझ लादे चल रहे हों, अहंकार है। ऐसा भान कम-से-कम होना—जैसा

अपने शरीर के नीरोग अवयवों के विषय में होता है वैसा—यह शून्यवत् स्थिति अथवा नम्रता है।

३. ऐसी नम्रता अभ्यास से नहीं प्राप्त की जा सकती, बल्कि अनेक सद्गुणों और विचारमय जीवन के फलस्वरूप स्वभाव में अपने-आप प्रकट होती है। नम्र मनुष्य को अपनी नम्रता का भान तक नहीं होता।

४. अक्सर बाहरी नम्रता की ओट में सूक्ष्म और तीव्र अभिमान छिपा होता है। यह नम्रता नहीं है।

५. अपनी मर्यादाओं को समझना और उन्हींके अंदर रहना भी नम्रता का आवश्यक लक्षण है।

६. नम्र मनुष्य दुनिया भर के काम कर डालने की हवस नहीं रखता; किंतु अपनी मर्यादा निश्चित करके उसके सिद्ध होने तक उसके बाहर कदम नहीं रखता।

७. सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का साधक यह जान ले कि इनके पालन की अपनी शक्ति आदर्श के अनुपात में कितनी अल्प है तो वह अपने-आप नम्र रहे।

८. एक ओर तो वह सत्य, अहिंसा आदि में अंतर्निहित शक्तियों में अपनी श्रद्धा कम न होने दे और दूसरी ओर इनकी चरम सीमा तक पहुंचने की अपनी अल्प शक्ति को देखकर हिम्मत न हारे; किंतु नम्रतापूर्वक अपनी मर्यादा को समझकर इन सबकी जीवन में अवतारणा करने का सदा यत्न करता रहे।

९. आदर्श को पहुंचने में अपनी कमियों की ओर नम्र मनुष्य आंखें बंद नहीं किये रहता। इन कमियों को वह निष्कपट भाव से स्वीकार करता है, उनका बचाव करने के लोभ में नहीं फंसता।

१२

व्रत-प्रतिज्ञा

१. व्रत का अर्थ है—जो आचरण अपनेको सत्य विचार का अनुसरण

करनेवाला जान पड़ता हो उसपर अविचल भाव से स्थिर रहने और उसके विपरीत आचरण कभी न करने की प्रतिज्ञा।

२. इस अविचलता में जितनी ढिलाई आयगी, सत्य के दर्शन में उतनी ही कचाई रह जायगी।

३. सदा सत्यरूपी परमात्मा में ही स्थित रहने के लिए—अर्थात् मन-वचन-कर्म से सत्यनिष्ठ ही रहने की स्थिति प्राप्त करने के लिए—ऐसी प्रतिज्ञाएं आवश्यक हैं।

४. असावधानी या कुसंगति के कारण अथवा पहले की बुरी आदतों या कुसंस्कारों के कारण, मन किये हुए निश्चयों पर स्थिर नहीं रह पाता। इस-लिए उसे व्रतरूपी बेड़ियों से कसना उसे स्थिर करने का अच्छा उपाय है।

५. यह स्पष्ट है कि जो आग्रह, विचार, वाणी और कर्म सत्य हो उन्हीं-के लिए व्रत हो सकता है। असत्य आग्रह, असत्य विचार, असत्य वाणी अथवा असत्य कर्म करने का व्रत नहीं लिया जा सकता और लिया हो तो उसे छोड़ देना पड़ता है। व्रत में ऊर्ध्वगमन है, परिश्रम है। वह असत्य या भोगादि में नहीं होता। इससे भोग करने का व्रत नहीं हो सकता।

६. असत्य न हो तो लिया हुआ व्रत छोड़ा नहीं जा सकता। उसके पालन में आनेवाली कठिनाइयों को झेलना ही होगा।

१३

उपासना-प्रार्थना[1]

१. उपासना का अर्थ है परमेश्वर के पास बैठना। बड़ों के पास बैठना के मानी हैं तद्रूप होना। परमेश्वर अर्थात् सत्य। इसलिए सत्यरूप होने का नाम है उपासना। सत्यरूप होने की तीव्र इच्छा करना, भगवान् से विनती करना प्रार्थना है।

२. सत्यरूप होने का अर्थ निर्विकार होना। निर्विकार होने के लिए

[1]. यह प्रकरण गांधीजी ने स्वयं लिखा है।—कि. घ. म.

विकारी विचार भी उत्पन्न न होने देना चाहिए। मन खाली नहीं रहता—या तो विकारी विचार करेगा अथवा सत्य की ओर जायगा। राम-कृष्णादि सत्य के मूर्ति-रूप हैं। इसलिए इन्हींका स्मरण नाम-स्मरण है। यह स्मरण हृदय से हो तो स्मरण करनेवाला तद्रूप अवश्य हो जायगा।

३. उपासना बुद्धि का विषय नहीं है, श्रद्धा का विषय है। उपासना करते-करते शुद्ध होना निश्चित ही है। ऐसी श्रद्धा रखकर नित्य उपासना करनी ही चाहिए। जैसे शरीर को अन्नादि पोसते हैं वैसे आत्मा को उपासना पोसती है।

४. सत्यरूप ईश्वर सबमें बसता है, इसलिए जीवमात्र से ऐक्यसाधन आवश्यक है। अतः उपासना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों होनी चाहिए।

५. जीवमात्र के साथ ऐक्य साधने का अर्थ है उनकी सेवा करना। इस-से निष्काम सेवा भी उपासना ही मानी जायगी।

१४

व्रतों की साधना

१. गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, सांप-सरीखे प्राणियों को मार सकते हैं या नहीं, स्त्री पर बलात्कार करनेवाले, अत्याचारी को पशुबल से रोका जाय या नहीं, ऐसी-ऐसी तार्किक उलझनों में पड़कर व्रतों की साधना नहीं हो सकती। ये गुत्थियां बुद्धि के रास्ते से जब सुलझनी होंगी सुलझ जायंगी, और यदि हमने जीवन के दैनिक और सामान्य अवसरों पर व्रतों की साधना ठीक तौर से की होगी तो कठिन अवसरों पर खुद हमें क्या करना है, इसका ज्ञान हमें अपने-आप हो जायगा।

२. दैनिक और सामान्य प्रसंगों के कुछ उदाहरण—

(क) असत्याचरण के—किसी चीज को बुरा समझते हुए भी अच्छा बताना, बड़ा या भला, अच्छा कहलाने की इच्छा से अपने में न होनेवाले गुणों का ढोंग करना, बोलने में अत्युक्ति करना, अपने दोष जिनके सामने प्रकट करने चाहिए उनसे छिपाना, साथी या अफसर के प्रश्न की बात को

उड़ा देनेवाला उत्तर देना, बता देने योग्य बात को छिपाना, विश्वास का भंग करना, वादे को तोड़ना इत्यादि।

(ख) हिंसा के—किसीका अपमान, तिरस्कार करना, खराब चीज दूसरे को देना और अच्छी खुद लेना, अपने काम से जी चुराकर साथी पर उसका बोझ डाल देना, पड़ौसी वा साथी से दुःख या बीमारी में हमदर्दी रखने में चूकना, अपने पास होते हुए भी भूखे-प्यासे को अन्न-पानी न देना, अतिथि का सत्कार न करना, मजदूर से तुच्छतापूर्वक बोलना और उसपर बिना सोचे-विचारे काम लादे जाना, जानवर को कांटे, डंडे, गाली आदि से पीड़ा पहुंचाना, भोजन में भात कच्चा रह गया, दाल में नमक अधिक हो गया, साग रुचिकर नहीं है—जैसी छोटी-छोटी बातों पर खीजना, इत्यादि।

इसी प्रकार दूसरे व्रतों के विषय में भी समझना चाहिए।

३. ब्रह्मचर्य के पालन में नीचे लिखी सूचनाएं उपयोगी हो सकती हैं :

(क) लड़के-लड़कियों का सादे और प्राकृतिक ढंग से, वे जीवन भर निर्मल रहेंगे इस विश्वास से, पालन-पोषण करना।

(ख) सबको मिर्च-मसाले, उत्तेजक पदार्थ, चरबी-चिकनाईवाली भारी खुराक, दुष्पाच्य मिष्टान्न, मिठाइयां और तली हुई चीजों का खाना छोड़ देना चाहिए।

(ग) पति-पत्नी का अलग-अलग कमरे में सोना और एकांत बचाना।

(घ) शरीर और मन दोनों का सदा सत्कार्यों में लगाये रखना।

(ङ) रात को जल्दी सोकर सुबह जल्दी उठने के नियम का कड़ाई से पालन करना।

(च) किसी भी प्रकार का वीभत्स और हलका साहित्य न पढ़ना। मलिन विचारों की दवा निर्मल विचार हैं।

(छ) थियेटर, सिनेमा आदि मनोविकारों को जगानेवाले तमाशे न देखना।

(ज) स्वप्नदोष हो तो घबरा न जाना चाहिए। तन्दुरुस्त आदमी के लिए इसका अच्छे-से-अच्छा इलाज है उसी समय ठंडे पानी से नहा लेना।

कभी-कभी स्त्री-संग कर लेना स्वप्नदोष का इलाज है, यह खयाल गलत है।

(झ) सबसे महत्त्व की बात यह है कि किसी भी व्यक्ति के लिए—पति-पत्नी तक में—संयम कठिन है, या शरीर और मन के लिए हानिकारक है, अथवा विषयभोग आरोग्य-दृष्टि से आवश्यक है, ऐसी रायों पर तनिक भी विश्वास नहीं रखना चाहिए। उलटा सबको चाहिए कि संयम को जीवन की स्वाभाविक और साधारण स्थिति की भांति मानकर चलें।

(ञ) नित्य उठकर पवित्रता और निर्मलता के लिए एकाग्र चित्त से प्रभु की प्रार्थना करना, रामनाम या ऐसे किसी अन्य मंत्र का सहारा लेना विषय-वासना को जीतने का सुनहरा नियम है।[1]

४. (क) प्रार्थना में सोना, आलस करना, बात करना, ध्यान न देना मन को यहां-वहां भटकने देना, आदि को प्रार्थना का छूट जाना समझना चाहिए। ऐसी अनिच्छा से हो तो इसे दूर करने के लिए प्रार्थना में जाने के पहले ही जाग जाना, उठकर दातुन करना और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए। तथापि शरीर काबू में न रहे तो, छोटा हो या बड़ा, उसे शर्म न करके खड़ा हो जाना चाहिए।

(ख) प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर नहीं बैठना चाहिए, डंडे की तरह सीधा बैठना और धीरे-धीरे सांस लेनी चाहिए।

(ग) प्रार्थना में श्लोक, भजन आदि का उच्चारण और ध्वनि सीखने की कोशिश करनी चाहिए। जबतक ये न आयें तबतक जोर से न बोलकर मन में ही बोलना चाहिए। यह भी न आये तो केवल रामनाम लेना चाहिए।

(घ) प्रार्थना में जो-कुछ कहा जाता हो उसका अर्थ समझ लेना और उसका मनन करना चाहिए।

(ङ) प्रार्थना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों महत्व की हैं। दोनों एक-दूसरे की पोषक हैं। व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य न समझने से सामु-

[1]. इस विषय पर जो अधिक पढ़ना चाहें वे 'मंडल' से प्रकाशित गांधीजी की 'अनीति की राह पर' नामक पुस्तक पढ़ें।

दायिक प्रार्थना में रस नहीं मिलता, और सामुदायिक प्रार्थना का लाभ व्यक्ति को नहीं होता। अतः प्रत्येक को व्यक्तिगत प्रार्थना भी नियमित रूप से करनी चाहिए।

(च) इसके दो वक्त तो खास हैं—उठते ही और रात को आंख मूंदने से पहले। पर यह न मान लेना चाहिए कि यह दो ही समय व्यक्तिगत प्रार्थना के हैं। प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक क्षण में ईश्वर को साक्षी बनाना व्यक्तिगत प्रार्थना है। इसके लिए किसी खास मंत्र या भजन की आवश्यकता नहीं है। इसमें कोई चाहे जिस नाम से, चाहे जिस ढंग से और चाहे जिस स्थिति में ईश्वर की याद करना है। हर सांस के साथ रामनाम निकले इस स्थिति को पहुंचना प्रार्थना का आदर्श है।

(छ) फिर भी इसमें समय लगता है यह नहीं मानना चाहिए। इसमें समय की आवश्यकता नहीं है बल्कि अमूर्च्छित रहने की—सतत सावधानता और जागृति की—तथा मलिनता के त्याग की आवश्यकता है।

खंड २ : : धर्ममार्ग

१

सर्वधर्म-समभाव

१. प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र में सत्य के गहरे खोजी और जन-कल्याण के लिए अत्यन्त लगन रखनेवाले विभूतिमान पुरुष और संत पैदा होते हैं। उस युग के और उस जन-समाज के दूसरे लोगों की अपेक्षा वे सत्य का कुछ अधिक साक्षात्कार किये हुए होते हैं। इनका कुछ साक्षात्कार सनातन सिद्धांतों का होता है, और कुछ अपने जमाने की परिस्थिति में से उपजा हुआ होता है। इसके सिवा ऐसा होता है कि कितने ही सिद्धांत अपने सनातन स्वरूप में उनकी समझ में आने पर भी, उन्हें कार्यरूप देने को उद्यत होने पर उस युग और देश की परिस्थिति से उसका मेल ही रहे ऐसी मर्यादा के अंदर ही उसकी प्रणाली उन्हें सूझती है। इन सबमें से ही जगत के भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति हुई है।

२. इस रीति से विचार करनेवाला किसी धर्म में सत्य का सर्वथा अभाव नहीं देखता, वैसे ही किसी धर्म को संपूर्ण सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करता। वह सभी धर्मों में परिवर्त्तन और विकास की गुंजाइश देखेगा। उसे दिखाई देगा कि विवेकपूर्वक अनुसरण करने पर प्रत्येक धर्म उस प्रजा का कल्याणसाधन कर सकता है और जिसमें व्याकुलता है उसे सत्य की झांकी कराने तथा शांति और समाधान देने में समर्थ है।

३. ऐसा मनुष्य यह अभिमान नहीं रखता कि उसीका धर्म श्रेष्ठ है, और मनुष्यमात्र को अपने उद्धार के लिए उसीका स्वीकार करना चाहिए। वह उसे छोड़ेगा भी नहीं और उसके दोषों की ओर से आंखें भी नहीं मूंदेगा। वह जैसा आदर-भाव अपने धर्म के प्रति रखेगा वैसा ही दूसरे

धर्मों और उनके अनुयायियों के प्रति भी रखेगा, और चाहेगा यही कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने धर्म के ही उत्तमोत्तम सिद्धांतों का यथोचित रीति से पालन करे।

४. निंदक-बुद्धि पर-धर्म में छिद्र ही देखेगी। सत्यशोधक को प्रत्येक धर्म में सत्य का जो अंग विकसित जान पड़ेगा उसका वह अंश ग्रहण कर लेगा। इससे सत्यशोधक पुरुष के बारे में प्रत्येक धर्म के अनुयायी को ऐसा जान पड़ेगा मानों वह उसीके धर्म का सच्चा अनुयायी है। इस प्रकार सत्यशोधक अपने जन्म-धर्म का त्याग किये बिना सब धर्मों का अनुयायी-सा प्रतीत होगा।

२

धर्म और अधर्म

१. सत्यशोधक सब धर्मों के प्रति समभाव रखेगा; पर वह अधर्म का तो विरोध ही करेगा; फिर चाहे वह अधर्म अपने या दूसरे धर्म के नाम पर होता हो या स्वतंत्र रूप से चल रहा हो।

२. सब धर्मों में कुछ अपूर्णता होने के कारण प्रत्येक धर्म में धर्म के नाम पर अधर्म पैंठ जाता है। और यह दाखिल होता है धर्म के नाम पर, इसलिए धर्म और अधर्म में भेद करना कठिन हो जाता है, पर यह करना ही पड़ता है।

३. किसी भी धर्म में हुए प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र में दोष मालूम होने पर उसपर जोर देकर उस धर्म की निंदा करना निंदक की रीति है। परंतु ऐसा दोष दूसरों के लिए आचरण करने योग्य नियम की भांति पेश किया जाय तो यह अधर्म है और इसका विरोध किया जा सकता है।

४. साधारणतः यह कहा जा सकता है कि जो आचार सत्य आदि यम-नियमों के इस प्रकार से विरोधी हैं कि वे इन धर्मों के विकास का नहीं बल्कि इनके भंग का पोषण करनेवाले हैं कि वे अधर्म हैं। इसका निर्णय

करना है तो कठिन, पर भक्तिमान और विवेकी सत्यशोधक को यह सूझ जाता है।

५. सत्यशोधक अधर्म का सर्वत्र विरोध करेगा, पर इसके साथ ही वह अधर्मी और अधर्म में भेद करेगा। अधर्म का विरोध करते हुए भी वह अधर्मी से द्वेष न करेगा। इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि वह अधर्मी का सत्य और अहिंसामय साधनों द्वारा ही विरोध करेगा। अधर्म का नाश करने के लिए असत्य, हिंसा आदि अधर्मयुक्त साधनों का उपयोग करके अधर्म के जवाब में अधर्म नहीं करेगा।

३

सत्याग्रह

१. इस प्रकार हम सत्याग्रह के तत्व पर आ पहुंचे। सत्याग्रह की संक्षिप्त व्याख्या यों हो सकती है—सत्यादि धर्मों का स्वयं पालन करने का आग्रह, और अधर्म का सत्यादि साधनों के द्वारा ही विरोध।

२. विरोध करने में खासकर अहिंसा के भंग की संभावना रहती है, इसलिए अहिंसा पर जोर देकर कहा जाता है कि अधर्म का अहिंसामय साधन से विरोध, सत्याग्रह है। 'सत्याग्रह' के नाम से जिस शुद्ध विधि का प्रचार हुआ है उसके शुद्ध प्रकार की यह स्थूल व्याख्या दी जा सकती है।

३. अधर्म के विरोध के लिए आचरणीय सत्याग्रह का सविस्तर विचार आगे किया जायगा। यहां इतना ही कहना काफी होगा कि सत्यादि धर्मों का स्वयं पालन करने के आग्रह में जितनी सिद्धि मिली होगी, उतनी ही अधर्म के विरोधरूप सत्याग्रह के आचरण की शक्ति आयगी और उसकी उचित रीतियां सूझती जायंगी।

४. पर ऐसी शक्ति का आना सत्याग्रही जीवन का दूसरा और गौण फल माना जायगा। यह दूसरा फल उपजे या न उपजे, इसका मुख्य फल तो ऐसे जीवन के फलस्वरूप पैदा होनेवाली सत्यरूपी परमेश्वर की पहचान ही है।

धर्मों और उनके अनुयायियों के प्रति भी रखेगा, और चाहेगा यही कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने धर्म के ही उत्तमोत्तम सिद्धांतों का यथोचित रीति से पालन करे।

४. निंदक-बुद्धि पर-धर्म में छिद्र ही देखेगी। सत्यशोधक को प्रत्येक धर्म में सत्य का जो अंग विकसित जान पड़ेगा उसका वह अंश ग्रहण कर लेगा। इससे सत्यशोधक पुरुष के बारे में प्रत्येक धर्म के अनुयायी को ऐसा जान पड़ेगा मानों वह उसीके धर्म का सच्चा अनुयायी है। इस प्रकार सत्य-शोधक अपने जन्म-धर्म का त्याग किये बिना सब धर्मों का अनुयायी-सा प्रतीत होगा।

२

धर्म और अधर्म

१. सत्यशोधक सब धर्मों के प्रति समभाव रखेगा; पर वह अधर्म का तो विरोध ही करेगा; फिर चाहे वह अधर्म अपने या दूसरे धर्म के नाम पर होता हो या स्वतंत्र रूप से चल रहा हो।

२. सब धर्मों में कुछ अपूर्णता होने के कारण प्रत्येक धर्म में धर्म के नाम पर अधर्म पैठ जाता है। और यह दाखिल होता है धर्म के नाम पर, इस-लिए धर्म और अधर्म में भेद करना कठिन हो जाता है, पर यह करना ही पड़ता है।

३. किसी भी धर्म में हुए प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र में दोप मालूम होने पर उसपर जोर देकर उस धर्म की निंदा करना निंदक की रीति है। परंतु ऐसा दोष दूसरों के लिए आचरण करने योग्य नियम की भांति पेश किया जाय तो यह अधर्म है और इसका विरोध किया जा सकता है।

४. साधारणतः यह कहा जा सकता है कि जो आचार सत्य आदि यम-नियमों के इस प्रकार से विरोधी हैं कि वे इन धर्मों के विकास का नहीं बल्कि इनके भंग का पोषण करनेवाले हैं कि वे अधर्म हैं। इसका निर्णय

करना है तो कठिन, पर भक्तिमान और विवेकी सत्यशोधक को यह सूझ जाता है।

५. सत्यशोधक अधर्म का सर्वत्र विरोध करेगा, पर इसके साथ ही वह अधर्मी और अधर्म में भेद करेगा। अधर्म का विरोध करते हुए भी वह अधर्मी से द्वेष न करेगा। इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि वह अधर्मी का सत्य और अहिंसामय साधनों द्वारा ही विरोध करेगा। अधर्म का नाश करने के लिए असत्य, हिंसा आदि अधर्मयुक्त साधनों का उपयोग करके अधर्म के जवाब में अधर्म नहीं करेगा।

३

सत्याग्रह

१. इस प्रकार हम सत्याग्रह के तत्व पर आ पहुंचे। सत्याग्रह की संक्षिप्त व्याख्या यों हो सकती है—सत्यादि धर्मों का स्वयं पालन करने का आग्रह, और अधर्म का सत्यादि साधनों के द्वारा ही विरोध।

२. विरोध करने में खासकर अहिंसा के भंग की संभावना रहती है, इसलिए अहिंसा पर जोर देकर कहा जाता है कि अधर्म का अहिंसामय साधन से विरोध, सत्याग्रह है। 'सत्याग्रह' के नाम से जिस युद्धविधि का प्रचार हुआ है उसके शुद्ध प्रकार की यह स्थूल व्याख्या दी जा सकती है।

३. अधर्म के विरोध के लिए आचरणीय सत्याग्रह का सविस्तर विचार आगे किया जायगा। यहां इतना ही कहना काफी होगा कि सत्यादि धर्मों का स्वयं पालन करने के आग्रह में जितनी सिद्धि मिली होगी, उतनी ही अधर्म के विरोधरूप सत्याग्रह के आचरण की शक्ति आयगी और उसकी उचित रीतियां सूझती जायंगी।

४. पर ऐसी शक्ति का आना सत्याग्रही जीवन का दूसरा और दृश्य फल माना जायगा। यह दूसरा फल उपजे या न उपजे, इसका मुख्य फल तो ऐसे जीवन के फलस्वरूप पैदा होनेवाली सत्यरूपी परमेश्वर की पहचान ही है।

४

हिन्दू-धर्म

१. हिन्दू के लिए हिन्दूधर्म यथेष्ट है। सत्यशोधक को अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए इसमें यथेष्ट सामग्री मिल जाती है।

२. श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, संतों की संस्कृत अथवा प्राकृत वाणी इत्यादि सनातन हिन्दूधर्म के धर्मग्रन्थ हैं। ग्रंथों में भिन्न-भिन्न ऋषियों, मुनियों, कवियों और विचारकों ने धर्म के भिन्न-भिन्न अंग भिन्न-भिन्न रीतियों से समझाये हैं। इन सारे वचनों का मूल्य समान नहीं माना जा सकता और कितने ही तो अग्राह्य भी लगते हैं। तथापि नीर-क्षीर-विवेक से देखनेवाले जिज्ञासु को अपनी धर्मवृत्ति का पोषक साहित्य इसमें प्रचुर परिमाण में मिल सकता है।

३. सनातन हिन्दूधर्म एक सच्चिदानंद परमात्मा को ही स्वीकार करता है और उसे मन-वाणी से परे बताता है। फिर भी सब परमात्मा-रूप है इस सिद्धांत से तथा विभूति के सिद्धांत से उपासक की रुचि के अनुसार अनेक प्रकार की कल्पनाओं और रूपकों के द्वारा भिन्न-भिन्न आदर्शों के निदर्शक देवी-देवताओं और ऐतिहासिक व्यक्तियों का अवतार-रूप में वर्णन करके उनकी और सद्गुरु की उपासना करने की भी उसमें स्वतंत्रता है। सनातन हिन्दूधर्म की दृष्टि ऐसी दो उपासनाओं के बीच विरोध नहीं देखती बल्कि मेल बैठाती है। इससे सनातन हिन्दूधर्म में मूर्त्ति-पूजा का निषेध नहीं है।

४. सनातन हिन्दूधर्म पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धांतों को स्वीकार करता है और मोक्ष को अन्तिम तथा श्रेष्ठ पुरुषार्थ समझता है, और उसके लिए यम, नियम व्रतसंयम, तीर्थयात्रा इत्यादि साधनों को स्वीकार करता है।

५. सनातन हिन्दूधर्म में वर्णाश्रम-व्यवस्था को बड़ा महत्व दिया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि यही उसकी विशेषता है। इसलिए हिन्दू

धर्म को वर्णाश्रम धर्म का नाम भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार गोरक्षा भी इस धर्म का सबसे बड़ा बाह्य रूप है। पर इन दोनों का विचार स्वतंत्र रूप से अन्यत्र होगा।

६. "वैष्णव जन तो तेने कहीये" पद में दिये गए लक्षण सनातन हिंदू-धर्म के सच्चे चिह्न हैं।

५

गीता-रामायण

१. हिंदू-धर्म में अनेक माननीय ग्रंथों के होते हुए भी नित्य के और साथ ही गहरे अध्ययन और मनन के लिए संस्कृत में गीता और हिंदी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस' ये दो ग्रंथ सबसे अधिक महत्व के और साधारणतः पर्याप्त समझे जा सकते हैं।

२. तत्वज्ञान और सूक्ष्म विवेचन कें लिए गीता और काव्यमय कथानकों द्वारा साधारण मनुष्यों के भी समझने और ग्रहण करने योग्य प्रकार से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के निरूपण के लिए तुलसीकृत रामायण ये दो हिंदू-धर्म की बेजोड़ पुस्तकें हैं।

३. अनासक्तियोग गीता का ध्रुवपद है—अर्थात् कर्म के फल की अभिलाषा छोड़कर कर्त्तव्य-कर्मों को सतत करते रहने का उपदेश उसकी ऐसी ध्वनि है जो कभी भुलाई न जाय। इसमें कर्म-मात्र का निषेध नहीं किया गया है, न यही कहा गया है कि कर्म में विवेक मत करो। इसमें दुष्कर्म का निषेध है और सत्कर्म को भी फलासक्ति छोड़कर करने का उपदेश है। सत्य, अहिंसादि के संपूर्ण पालन के बिना इस योग की सिद्धि होना असंभव है।

४. गीता का पाठ, वाचन और मनन कभी पुराना नहीं पड़ता। ज्यों-ज्यों इसका विचार और तदनुसार आचरण करते जाइये त्यों-त्यों इसकी पुनरावृत्ति से नया-नया बोध मिलता ही रहेगा। इतना ही नहीं, गीता में आये हुए महाशब्दों के अर्थ युग-युग में बदलते रहेंगे और विस्तार पाते जायंगे।

खंड ३ : : समाज

१

वर्णाश्रम

१. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिंदूधर्म का सच्चा नाम वर्णाश्रम-धर्म है यह कह सकते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था इस वर्ग की विलक्षणता प्रकट करती है। इसका मूल वेद में ही है।

२. प्रत्येक धर्म की कुछ-न-कुछ विशेषता होती ही है। हिंदुओं ने जिस धर्म का पालन किया है उसे अगर कोई विशेष और सार्थक नाम दिया जा सकता है तो वह वर्णाश्रम-धर्म ही है।

३. इस कारण कोई हिन्दू वर्णाश्रम की उपेक्षा नहीं कर सकता। इस प्रथा को समझकर सदोष जान पड़े तो इसका ज्ञानपूर्वक त्याग किया जा सकता है; और यदि यह प्रथा धर्म की निर्दोष विशेषता हो तो, (और है इसलिए) इसका पोषण तथा पुनरुद्धार कर्तव्य है।

४. वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज-रचना की मनमानी व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसके पीछे सिद्धांत का ज्ञान विद्यमान है। अर्थात् उसके पीछे मानव-मात्र को लागू होनेवाले नियमों का ज्ञान है।

५. इस प्रकार वर्णाश्रम की खोज हिंदूधर्म में हुई है सही; पर इसके पीछे जो सिद्धांत है वह हिंदुओं को ही लागू होता है, औरों को नहीं, ऐसा नहीं है। जगत भले ही आज उसे स्वीकार न करे। उतना वह खोयेगा। आज नहीं तो कल दुनिया को उसे स्वीकार करना होगा।

६. पर वर्ण और आश्रम दोनों का आज तो लोप ही हो गया है। आश्रम का नाम और कर्म दोनों से हो गया है। वर्ण का लोप नाम से भले ही न माना जाय, तो भी कर्म से तो हुआ ही है।

हम दोनों पर क्रमशः विचार करेंगे।

२

वर्णधर्म

१. वर्ण का अर्थ है धंधा, पेशा। वर्ण-धर्म का सिद्धांत संक्षेप में इस रूप में रखा जा सकता है। जो मनुष्य जिस कुटुंब में पैदा हो उसका धंधा, अगर वह नीति-विरुद्ध न हो तो, धर्म-भावना से करे; और ऐसा करते हुए जो अर्थ-प्राप्ति हो उसमें से सामान्य आजीविका भर को ही रखकर बाकी को लोक-कल्याण में लगाये।

२. वर्ण धर्म है, अधिकार नहीं। उसका अर्थ यह है कि हरएक वर्ण को चाहिए कि अपने-अपने कर्म को धर्म समझकर करे। उदर-पोषण उसका यत्किंचित् फल है। वह मिले या न मिले समझदार को अपने धर्म में रत रहना ही चाहिए।

३. इसके सिवा उसका अर्थ यह भी है कि वर्ण-वर्ण के बीच ऊंच-नीच का भेद न हो बल्कि सभी वर्ण समान माने जायं।

४. वर्ण का निर्णय सामान्यत: जन्म से किया जाता है; किसी हद तक कर्म से भी किया जाता है। सामान्यत: मनुष्य को अपना पैतृक धंधा करने की कला विरासत में मिलती है। यह नियम सर्वव्यापक है और जाने-अनजाने सभी उसका अल्पाधिक पालन करते हैं। हिंदू पूर्वजों ने कठिन तपश्चर्या से इस महान नियम की खोज की और यथाशक्ति उसका पालन किया। जगत अगर इस धर्म अथवा नियम का अनुसरण करे तो सर्वत्र संतोष फैल जाय, अनुचित प्रतिस्पर्धा मिट जाय, ईर्ष्या दूर हो जाय, कोई भूखों न मरे, जन्म-मरण का पलड़ा बराबर रहे और व्याधियां दूर रहें।

५. इस धर्म-व्यवस्था में ब्राह्मण ब्रह्म को पहचानने और पहचनवाने में समय बिताये और यह माने कि उसकी आजीविका उसे भगवान देते हैं। क्षत्रिय प्रजापालन-धर्म का पालन करे और इसके लिए आजीविकार्थ मर्यादित द्रव्य ले। वैश्य प्रजा के कल्याण के लिए खेती, गोपालन या व्यापार करे; जो अर्थ-लाभ हो उसमें से आजीविका भर को लेकर बाकी को लोक-

कल्याण में उपयोग करे। इसी प्रकार शूद्र परिचर्या करे और उसे धर्म समझकर ही करे।

६. और फिर इस व्यवस्था में जिसके पास जो संपत्ति होगी उसका वह सारी जनता के हितार्थ रखवाला या संरक्षक होगा; अपने-आपको कभी उसका मालिक न मानेगा। राजा अपने महल का या प्रजा से गृहीत कर का मालिक नहीं बल्कि रखवाला है। अपना पेट भरने भर को लेकर बाकी का उपयोग प्रजा के हितार्थ करने को वह बंधा हुआ है। यानी अपनी कार्य-दक्षता से उसमें वृद्धि करके प्रजा को वह किसी-न-किसी रूप में वापस कर देगा। यही बात वैश्य के लिए है।

७. शूद्र का तो कहना ही क्या! उसके पास कोई मिल्कियत तो कभी होनेवाली ही नहीं। अतः जो शूद्र केवल धर्म समझकर परिचर्या ही करता है और जिसे मालिक होने का लोभ तक नहीं है वह हजार-हजार वंदना के योग्य है और सर्वोपरि है।

८. पर, इस शूद्र धर्म की स्तुति तभी शोभा देती है जब ये तीन वर्ण अपने-आप को जनता का सेवक समझते हों, और उनके पास जो संपत्ति है, अपनेको सार्वजनिक उपयोग के लिए उसकी रखवाली करनेवाला साबित करते हों। यह धर्म किसीपर लादा तो जा ही नहीं सकता।

९. वर्ण को धर्म के रूप में सामने रखकर उसके शोधक ने यह सूचित किया है कि उसके पालन में बलात्कार की गंध तक न होनी चाहिए। उसके पालन से ही जगत् टिक सकता है, उसके पालन में जगत् का निस्तार है, यह समझकर हरएक को अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करते-करते मर मिटना है, दूसरों से जबर्दस्ती उसका पालन नहीं कराना है।

१०. समझदार के लिए इस धर्म का पालन सरल है।

११. इस प्रकार का वर्ण-धर्म समता का धर्म है; केवल साम्यवाद नहीं। जगत् में विषमता फैली हुई है उसकी जगह समता का साम्राज्य हो जाय। सब धंधे प्रतिष्ठा और मूल्य में समान माने जायं। राजा और राजा के मंत्री से लगाकर भंगी तक सब बराबर कमायें। तीन वर्ण अधिक

कमायें और शूद्र कम कमायें, अथवा क्षत्रिय महल में विराजें और ब्राह्मण भिक्षुक होने के कारण झोंपड़ी में रहें, वैश्य बड़ी-बड़ी हवेलियां खड़ी करें और शूद्र बिना घर-बार का गुलाम बनकर रहे, ऐसी दयनीय दशा जहां वर्ण-धर्म का पालन होता हो वहां हो ही नहीं सकती, न होनी चाहिए।

१२. इस प्रकार के वर्ण-धर्म का आज लोप हो गया है। कितने ही लोग अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बताते हैं सही; पर अपनेको शूद्र कहते हुए सभी लजाते हैं। इस प्रकार वास्तव में वर्ण नाम को रह गया है। फिर भी व्यवहार में यदि हम 'वर्ण' संज्ञा रख सकते हों तो हम सब शूद्र ही कहे जायंगे। और सच पूछिये तो हम अपने-आपको शूद्र भी नहीं कह सकते, क्योंकि शूद्र वर्ण भी धर्म है, अर्थात् स्वेच्छा से स्वीकार करने की वस्तु है, और उसमें लज्जा को स्थान नहीं हो सकता। ऐसा तो है नहीं, इसलिए केवल काल के वश होकर हम शूद्रता अर्थात् दासत्व को प्राप्त हुए हैं।

१३. अगर कहा जाय कि जो मनुष्य जिस वर्ण का कर्म करता है उसे उस वर्ण का मानें तो वर्णों के करने के काम तो होते ही रहते हैं, अतः वर्ण-धर्म का लोप नहीं हुआ, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जहां कर्म का मिश्रण होता हो, जहां सब स्वेच्छा से अपनेको जो रुचे वह कर्म करते हों, वहां वर्ण-धर्म का पालन नहीं बल्कि वर्ण का संकर ही है।

१४. वर्ण में ऊंच-नीच के भाव की गुंजाइश ही नहीं है। पर दीर्घ-काल से हिंदूधर्म में धर्म के नाम पर ऊंच-नीच का भेद पैठा हुआ है। वह वर्ण-धर्म का वक्र रूप है, विकराल रूप है। जगत में आज फैले हुए कलह का मुख्य कारण ऊंच-नीच का भेद ही है। इस युद्ध का निवारण वर्णधर्म के पालन से हो सकता है।

१५. पर जहां तीन वर्ण अपनेको ऊंचा मानकर शूद्र को नीचा मानते हों, वहां शूद्र उनसे ईर्ष्या करे और जो संपत्ति तीन वर्ण लेकर बैठ गए हों उसमें हिस्सा बटाने की इच्छा रखे तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं है; दुःख की बात भी नहीं है।

१६. आज वर्ण-धर्म का पालन रोटी-बेटी-व्यवहार की मर्यादा में समा

गया है। इन व्यवहारों में मर्यादा की यानी खाद्याखाद्य-विवेक की, और बेटा-बेटी के लेन-देन में नियम की आवश्यकता अवश्य है। पर वर्णधर्म इन दोनों पर अवलंबित नहीं है और उन्हें वर्णधर्म के साथ जोड़ देने से हिंदू-धर्म को बहुत नुकसान पहुंचा है।

१७. वर्ण और आज की जातियों के बीच जमीन-आसमान का अंतर है। आज की जातियां और उपजातियां लुप्त हुई वर्ण-व्यवस्था के खंडहरों के समान हैं। उनके मूल में वर्णभेद-सरीखा कोई व्यापक नियम नहीं है, बल्कि वे आकस्मिक कारणों और रूढ़ि से उत्पन्न हुई प्रथा है। यह वर्ण-व्यवस्था नहीं है, बल्कि जाति-बंधन है। इसमें हिंदू जाति को हानि है, इसलिए इसका नाश होना चाहिए।

१८. शास्त्रों में वर्ण चार बताये गए हैं। पर चार ही होने चाहिए, यह वर्णधर्म का कोई अनिवार्य अंग नहीं है। वर्णधर्म के पुनरुद्धार का विचार करने बैठें तो शायद वर्ण चार से अधिक या कम करवे की जरूरत मालूम हो।

३

आश्रम

१. आश्रम-व्यवस्था भी प्रकृति के नियमों को व्यवस्थित रूप से अमल में लाने के प्रयत्न में से उपजी है।

२. सब वर्ण के लोगों को सब आश्रमों का अधिकार है।

३. चारों आश्रम एक-दूसरे के साथ ऐसे जुड़े हुए हैं कि एक के बिना दूसरे का पालन हो ही नहीं सकता।

४. ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य जन्म से ही होता है। इस कारण इसी आश्रम को बिल्कुल अनिवार्य कह सकते हैं। इस आश्रम को कभी न छोड़ने अर्थात् यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालन करने का जो चाहे उसे अधिकार है। कम-से-कम पुरुष को २५ वर्ष तक और स्त्री को १८ वर्ष तक इस आश्रम का पवित्रतापूर्वक पालन करना चाहिए।

५. दूसरे सब आश्रमों की उज्ज्वलता का आधार इस आश्रम में

रखे हुए पवित्र और संयममय जीवन पर है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से पहला आश्रम ही मुख्य आश्रम है। इस आश्रम के लोप से हिंदूधर्म और समाज की अत्यंत हानि हुई है। इस आश्रम को तेजस्वी बनाना प्रत्येक हिंदू का कर्तव्य है। पर इस आश्रम का आज शायद ही कोई पालन करता है।

६. गृहस्थाश्रम के विवाह-धर्म का विचार दूसरे प्रकरण में किया जायगा। धर्म-मार्ग से राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने का विशेष भार इस आश्रम पर है।

७. गृहस्थाश्रम भोग-विलास के लिए है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। हिंदू-धर्म की सारी व्यवस्था ही संयम के पोषण के लिए है। अतः भोग-विलास हिंदू-धर्म में कभी अनिवार्य नहीं हो सकता। गृहस्थाश्रम में भी सादगी और संयम दूषण नहीं बल्कि भूषण ही हैं।

परंतु संयम के आदर्श का पोषण करते हुए भी कितने ही मनुष्य भोगों के प्रति होनेवाले आकर्षण को नहीं रोक सकते। गृहस्थाश्रम के धर्म इन भोगों की मर्यादा और सेवन की विधि नियत कर देते हैं।

८. फिर भी आज जिसका सब लोग पालन करते हैं वह गृहस्थ-'वृत्ति' अर्थात् प्रजा-वृद्धि का धर्म है, गृहस्थ 'धर्म' नहीं है। इसके द्वारा अधिकांश में स्वेच्छाचार और व्यभिचार का पोषण होता है।

९. व्यभिचारी या स्वेच्छाचारी जीवन के अंत में वानप्रस्थ या संन्यास को असंभव समझना चाहिए।

१०. भोगों को घटाते-घटाते फिर इसके प्रति मोह को छोड़ने की शक्ति प्राप्त होने पर गृहस्थ दम्पति ब्रह्मचर्य व्रतों को धारण करके अथवा उन्हें फिर सतेज करके वानप्रस्थ बनते हैं। जिसने अपने राग-द्वेष पर पूरी विजय नहीं पाई है, पर इंद्रियों को रोक सकता है और रोककर बैठा है, उसे वानप्रस्थ कह सकते हैं। इस आश्रम को आज लुप्त समझना चाहिए।

११. जिसने राग-द्वेष को पूरा-पूरा जीत लिया है; जो काया, वाणी और मन तीनों से सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि धर्मों का पालन करता है, वह संन्यासा हो गया यह कह सकते हैं। ऐसा संन्यासी निष्काम भाव से सेवा-कार्य

करते हुए भी अपने निर्वाह का आधार भिक्षा पर रखता है।

१२. आश्रमों का बाहरी भेख से संबंध नहीं है।

४

स्त्री-जाति

१. स्त्री-जाति के प्रति रखा गया तुच्छ भाव हिंदू समाज में घुसी हुई सड़न है, धर्म का अंग नहीं है। धार्मिक पुरुष भी इस प्रकार के तिरस्कार-भाव से मुक्त नहीं हैं, यह बात बतलाती है कि सड़न कितनी गहराई तक पहुंच गई है।

२. स्त्री और पुरुष में प्रकृतिगत भेद है। इससे दैनिक जीवन में उनके कर्त्तव्यों में भी भेद होता है। फिर भी दोनों में कोई ऊंचा या नीचा नहीं है, बल्कि ये दोनों समाज के समान महत्त्व के और प्रतिष्ठापात्र अंग हैं।

३. पुरुष स्त्री-जाति को एक ओर से दबाता है, अज्ञान दशा में रखता है, उसकी अवगणना और निंदा करता है, दूसरी ओर से उसे अपनी भोग-वासना को तृप्त करने का साधन-मात्र मानता है, और इस हेतु से उसे पुतली की भांति अपनी इच्छा के अनुसार सजाता तथा उसकी खुशामद करता है और इस तरह उसकी भोगवृत्ति को उत्तेजित करने का प्रयत्न करता है। इन दोनों प्रकारों से केवल स्त्री-जाति का ही नहीं, पुरुष का अपना भी और सारे समाज का भारी अधःपतन हुआ है।

४. पालन-पोषण और शिक्षण में लड़के और लड़की में भेद करने-वाले और लड़की के प्रति कम कर्त्तव्य-बुद्धि रखनेवाले माता-पिता पाप करते हैं।

५. वयःप्राप्त पुरुष जितनी स्वतंत्रता का अधिकारी है, उतनी ही स्वतंत्रता की अधिकारिणो स्त्री भी है।

६. स्त्री अबला नहीं है बल्कि अपनी शक्ति को पहचाने तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता-रूप में जिस रीति से बालक को गढ़ती है और

पत्नी होकर जिस प्रकार पति को चलाती है, बहुत करके पुरुष वैसे ही बनते हैं।

७. स्त्री-जाति में छिपी हुई अपार शक्ति उसकी विद्वत्ता अथवा शरीर-बल की बदौलत नहीं है, इसका कारण उसके भीतर भरी हुई उत्कट श्रद्धा, भावना का वेग और अत्यन्त त्याग-शक्ति है। वह स्वभाव से ही कोमल और धार्मिक वृत्तिवाली होती है, और पुरुष जहां श्रद्धा खोकर ढीला पड़ जाता है, अथवा झूठे हिसाब लगाने में उलझा रहता है, वहां वह धीरज रखकर सीधे रास्ते पर स्थिर भाव से बढ़ती है।

८. जगत में धर्म की रक्षा मुख्यत: स्त्री-जाति की बदौलत हुई है।

९. स्त्री-जाति अपना बल और कार्य-क्षेत्र की दिशा ठीक-ठीक समझ ले तो वह कभी अपने-आपको पुरुष की दबैल न मानेगी, और पुरुष का तथा उसकी प्रवृत्ति का अनुकरण करने का ही आदर्श अपने सामने न रखेगी। वह पुरुष को रिझाने अथवा आकृष्ट करने के लिए अपने शरीर को न सजायेगी; किंतु अपने हृदय के गुणों से ही सुशोभित होने का यत्न करेगी।

१०. स्त्री-जाति को सार्वजनिक कार्यों में पुरुष के बराबर ही हाथ बटाना चाहिए। मद्यपान-निषेध, पतित स्त्रियों के उद्धार, इत्यादि कितने ही काम ऐसे हैं जिन्हें स्त्री ही अधिक सफलतापूर्वक कर सकती है।

११ स्त्रियों को विवाह करना ही चाहिए, यह धारणा भ्रम है। उसे भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य-पालन का अधिकार है।

१२. स्त्री अपनी इच्छा के विरुद्ध पति की काम-वासना तृप्ति करने को मजबूर नहीं है। ऐसा करनेवाला पति व्यभिचार के समान ही दोष करता है।

५

अस्पृश्यता

१. अस्पृश्यता हिंदूधर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसको दूर करना हरएक हिंदू का धर्म है, उसका परम

कर्त्तव्य है।

२. अस्पृश्य माने जानेवाले लोग चार वर्ण के ही अंग हैं।

३. जन्म के कारण मानी गई इस अस्पृश्यता में अहिंसा धर्म और सर्वभूतात्मभाव का निषेध हो जाता है। इसकी जड़ में संयम नहीं है, उच्चता की उद्धत भावना ही वहां बैठी हुई है। इसलिए यह स्पष्टतः अधर्म ही है। इसने धर्म के बहाने लाखों-करोड़ों की हालत गुलामों की-सी कर डाली है।

४. सार्वजनिक मेले, बाजार, दूकानें, मदरसे, धर्मशालाएं, मंदिर, कुएं, रेल, मोटरें इत्यादि में, जहां कहीं दूसरे हिंदुओं को आजादी से जाने और उनसे लाभ उठाने का अधिकार हो वहां अस्पृश्यों को भी अवश्य अधिकार है। इस अधिकार से उन्हें वंचित रखनेवाला अन्याय करता है। इस अधिकार को स्वीकार करनेवाले उनपर मेहरबानी नहीं करते बल्कि अपनी ही भूल को सुधारते हैं।

५. सैंकड़ों वर्षों के अमानुष व्यवहार और संस्कारवान वर्णों के संसर्ग से वंचित रहने के फलस्वरूप अस्पृश्यों की स्थिति इतनी अधिक दयनीय हो गई है, और वे इतने अधिक नीचे गिर गए हैं कि उन्हें दूसरे वर्गों की कोटि में चढ़ाने के लिए संस्कारवान हिंदुओं के विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसलिए अस्पृश्य तथा दूसरी दलित या पिछड़ी हुई जातियों की सेवा में अपना जीवन अर्पण करना और इस कार्य में उदार हृदय से सहायता करना इस युग के संस्कारवाले हिंदुओं का अति पवित्र कर्त्तव्य है।

६. इस दृष्टि से दलित जातियों के लिए विशेष संस्थाओं और सुविधाओं की जरूरत है। पर विशेष संस्थाओं और सुविधाओं की व्याख्या कर देने से उनका सार्वजनिक संस्थाओं और सुविधाओं से लाभ उठाने का अधिकार चला नहीं जाता।

७. अछूतों की स्थिति सुधारने के लिए यह जरूरी नहीं है कि उनसे उनके परंपरागत पेशे छुड़वाये जायं अथवा उन पेशों के प्रति उनके मन में अरुचि पैदा की जाय। ऐसा नतीजा पैदा करने के लिए की गई कोशिश उनकी सेवा नहीं, असेवा होगी। बुनकर बुनता रहे, चमार चमड़ा कमाता रहे

और भंगी पाखाना साफ करता रहे और तब भी वह अछूत न समझा जाय तभी कह सकते हैं कि अस्पृश्यता का निवारण हुआ।

८. भंगी समाज की गंदगी को दूर करके उसे रोज-रोज साफ-सुथरा रखने का पवित्र कार्य करता है। यह कार्य नियमित रूप से न हो तो सारा समाज मरने की दशा को पहुंच जाय। यह कहना यथार्थ नहीं कि वे अपने पेशे की बदौलत संस्कारहीन तथा निर्बल दशा को प्राप्त हुए हैं। इन पेशों को दूसरे पेशों के बराबर ही समझना चाहिए। दूसरे पेशों की तरह इन पेशों में भी अनेक सुधारों की गुंजाइश है, पर यह बिल्कुल भिन्न प्रश्न है। संस्कार-वाना हिंदू इसको खुद कर दिखाकर उसमें बहुत सुधार कर सकते हैं।

९. अछूतों में घुसी हुई मुरदार मांस खाने की प्रथा ही बतलाती है कि उनकी दरिद्रता कितनी करुणाजनक है! इस दरिद्रता के दूर होने और उन्हें समझाने से यह आदत छूट सकती है।

१०. केवल अपना आचार अच्छा रखने से कोई संस्कारवान नहीं बन सकता। स्वयं जिसे हम गंदा काम मानते हों उसे करने को दूसरे को विवश होना पड़े, इस प्रकार का व्यवहार संस्कारहीनता की निशानी है। अपनेको संस्कारवान माननेवाले वर्ण अछूतों को अपना जूठन या बासी, उतारन या अपवित्र हुई वस्तु दें, और उनके साथ पशु से भी बुरा व्यवहार करें, यह असंस्कारिता है और साथ ही पाप भी।

६

खाद्याखाद्य-विवेक

१. मनुष्य सर्वभक्षी प्राणी नहीं है। इसके खाद्य पदार्थों की सीमा अवश्य है। पर वर्ण-धर्म के साथ इसका संबंध नहीं है। इसमें छूत-छात दोष-रूप है।

२. स्वच्छता इत्यादि के नियमों का पालन और खाद्याखाद्य के विवेक-की रक्षा करते हुए सब वर्णों के एक पंक्ति में खाने में कुछ भी दोष नहीं है। भोजन किसी खास वर्ण के आदमी का ही बनाया हुआ हो यह कदापि

आवश्यक नहीं है।

३. रोटी-व्यवहार को जो महत्व आज दिया जाता है वह छूआछात का पोषक ही है। वह संयम के बदले उलटा भोग को उत्तेजना देनेवाला हो गया है।

४. इस कारण, जाति, कौम, धर्म इत्यादि भेदों की दृष्टि से किया गया चौका-भेद और पंक्ति-भेद धर्म का लक्षण नहीं है। इस भेद की भावना से हिंदू-धर्म की हानि हुई है।

७
विवाह

१. विवाह से मनपाना भोग करने की छूट मिल जाती है यह विचार पापमय है। स्त्री-पुरुष का भोग एक ही उद्देश्य से धर्मयुक्त हो सकता है, वह है—दोनों की संतानेच्छा। इस इच्छा को पूरी करने का शुद्ध प्रकार विवाह है।

२. विवाहेच्छु युवती या युवक अपने लिए वर या वधू खुद पसंद करें, यह साधारणतः इष्ट नहीं है। इसमें मानसिक व्यभिचार के बारंबार और कभी-कभी शारीरिक व्यभिचार के भी अवसर उपस्थिति होते हैं। इसके सिवा, कम अनुभवशाली युवावस्था तथा भोगेच्छा के आवेग में जो चुनाव होता है उसके बुद्धिमत्तापूर्वक होने की संभावना बहुत कम रहती है।

३. इसलिए विवाहेच्छु को चाहिए कि वह अपनी इच्छा तथा विवाह के विषय में उसने कोई शर्तें या निश्चय कर रखे हों (जैसे विधवा के साथ जाति के बाहर, पैसे के लेन-देन के बिना, विवाह करना, इत्यादि) तो उन्हें, अपने बड़ों या बड़ों-जैसे मित्रों को बता दे, और उनका ध्यान रखते हुए अपने लिए योग्य वर या वधू तलाश कर देने की उनसे प्रार्थना करे।

४. बड़े लोग युवती या युवक के स्वभाव, गुण-दोष तथा विचारों को ध्यान में रखकर उनके अनुरूप जोड़ा ढूंढ़ देने का प्रयत्न करें। दोनों को एक-दूसरे के गुण-दोष से परिचित करा दें; दोनों के जीवन में कोई अवश्य

जानने योग्य बात हुई तो उसे स्पष्ट कर दें। चुनाव में जो बात विशेष महत्व की हो सकती हो वह छिपाई न जाय।

५. सब बातें बताने के बाद अगर युवक-युवती को परस्पर मिलकर परिचय अथवा बातचीत करने की जरूरत मालूम हो तो उन्हें मर्यादापूर्वक ऐसा करने का सुभीता बड़ों को कर देना चाहिए।

६. इसके फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे को स्वीकार करने का निश्चय करें तो उनका संबंध कर दिया जाय। दोनों में से एक भी अनिश्चित हो या रजामंद न हो तबतक संबंध न किया जाय। उस दशा में बड़ों को दूसरा स्थान ढूंढ़ना चाहिए।

७. संबंध होने के बाद और विवाह के पहले स्पर्श की उचित मर्यादा में रहकर और ब्रह्मचर्य-पालन का आग्रह रखते हुए दोनों एक-दूसरे के साथ पत्र-व्यवहार रखें या मिलें-जुलें तो इसमें दोष नहीं है। संयमी स्त्री-पुरुष इस अवधि में भी अपने भावी वर या वधू से भोग की बातें या कल्पनाएं न करके एक-दूसरे का उत्कर्ष साधनेवाली बातें और कल्पनाएं करेंगे।

८. ब्याह के बाद भी वे मानेंगे कि विवाह एक धर्म है। धर्म में मर्यादा, विवेक आदि होते हैं। अतः मर्यादा और विवेकपूर्वक रहनेवाले दम्पती गृहस्थ-धर्म का पालन करते हैं। मर्यादारहित होकर जो आचरण करते हैं वे धर्मनिष्ठ नहीं, स्वेच्छाचारी है।

९. संतान की इच्छा के बिना विवाह-संबध नहीं होना चाहिए। पर विवाह करने के बाद दोनों संयम का जीवन बिताना चाहें तो विवाह को व्यर्थ समझने की जरूरत नहीं है। समाज में अनेक आवश्यक कार्य स्त्री-पुरुष दोनों को मिलकर करने के होते हैं। उन कर्मों में दो ों एक-दूसरे के धर्म-सहचारी बनकर अपने निकट संबंध का उपयोग सेवा के निमित्त करें।

१०. संतानोत्पादन की इच्छा न हो, अथवा दोनों में से एक में भी संतान उत्पन्न करने की योग्यता या शक्ति न हो या दोनों की रजामंदी न हो, फिर भी अगर पति-पत्नी भोग करते हैं तो उसे पाप समझना चाहिए।

८

संतति-नियमन

१. विना विचारे संतान बढ़ाते जाना या संतान की इच्छा करते रहना जड़ता का लक्षण है।

२. आज संतति की विना विचारे होनेवाली वृद्धि को रोकने की आवश्यकता है। उसका धर्मयुक्त मार्ग एक ही है—और वह ब्रह्मचर्य है।

३. संतति-नियमन के कृत्रिम उपाय धर्म तथा नीति के विरुद्ध और परिणाम में विनाश की ओर ले जानेवाले हैं। इससे समाज का सब प्रकार अधःपात होता है।

९

पति-पत्नी में ब्रह्मचर्य

१. विवाहित स्त्री-पुरुष को ऋतुकाल में भोग करना ही चाहिए, यह खयाल भूल से भरा हुआ है। यह धारणा भी गलत है कि दो में से एक की इच्छा न हो तो भी उसे दूसरे की भोगेच्छा तृप्त करनी ही चाहिए।

२. इसलिए दो में से एक की विषयेच्छा इतनी मंद पड़ जाय कि वह अपने शरीर को काबू में रख सके तो उसे ब्रह्मचर्य-व्रत लेने का अधिकार है। ऐसा करते समय वह अपने साथी का सहयोग तो चाहेगा पर उसकी सम्मति को आवश्यक नहीं मानेगा।

३. पति असहमत हो तो स्त्री के ऐसे निर्णय से उसकी स्थिति के कठिन हो जाने की संभावना अवश्य है। जिसे अपना धर्म स्पष्ट हो गया है वह स्त्री सत्याग्रह के बल से इस कठिनाई को सहन कर ले और जो दुःख पड़े उसे बर्दाश्त कर ले।

४. पति के ऐसा निश्चय करने पर भी तीव्र भोगेच्छा रखनेवाली स्त्री की स्थिति कठिन हो जाती है, क्योंकि दोनों स्थितियों में कानून और लोकमत पत्नी के प्रतिकूल है। पर जो पति इस प्रकार धर्म-भाव से ब्रह्मचर्य-

व्रत स्वीकार करेगा वह अपनी पत्नी का रास्ता सुगम कर देगा। वह ऐसे योग्य पुरुष की तलाश में उसकी सहायता करेगा जो कानून की परवा न करके अपनेको उस स्त्री के साथ धर्म-विवाह से ही बंधा हुआ मानेगा और समाज तथा कानून की ओर से जो कठिनाइयां पैदा की जायंगी उन्हें सहन कर लेगा। इस प्रकार कानून में सुधार करने का रास्ता भी वह आसान कर देगा। ऐसा पति जबतक न मिले तबतक उसे आदरपूर्वक रखेगा।

१०

विधवा-विवाह

१. हिन्दू-विधवा त्याग और पवित्रता की मूर्ति है। वह माता की भांति सबके लिए पूज्य है। उसे अशुभ समझनेवाला हिन्दू-समाज का महान अपराध करता है। शुभ कार्यों में उसकी उपस्थिति और आशीर्वाद पाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। पवित्र विधवा को समाज का भूषण समझकर उसके मान और प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए।

२. किंतु स्त्री-जाति के प्रति पोषित-प्रचारित तुच्छ भाव ने विधवा के साथ अन्याय करने में कोई कसर उठा नहीं रखी। इससे हिंदू-विधवा की स्थिति अछूतों के समान ही दयाजनक हो गई है।

३. विधवा त्याग की मूर्ति है, पर इस कारण वैधव्य जबरदस्ती पालन कराने की चीज नहीं है। बलात्कार से कराया हुआ त्याग उसमें रहनेवाली दिव्यता का नाश करता है और उसे पूजनीय तथा आदर्श बनाने के बदले दया का पात्र बना डालता है।

४. इस कारण विधुर हुए पुरुष को पुनर्विवाह करने का जितना अधिकार माना गया है उतना ही विधवा को भी है।

५. बालविधवा बालविवाह का परिणाम है। १५-१६ की उम्र से पहले कन्या का विवाह होना ही न चाहिए। ऐसे विवाह के फलस्वरूप प्राप्त वैधव्य तो वैधव्य ही नहीं है। ऐसी विधवा को कुंवारी कन्या के समान मानकर मां-बाप को उसके ब्याह की उतनी ही चिंता करनी चाहिए जितनी वे कुंवारी

बेटी के ब्याह की करते हैं, और उसे ब्याह देना चाहिए।

६. विवाहेच्छु हिंदू युवकों से ऐसी बालविधवाओं से ही ब्याह करने का आग्रह रखने की सिफ़ारिश करना उचित होगा। यदि युवक विधुर फिर से विवाह करना चाहे तो उसे विधवा से ही विवाह करना धर्म समझना चाहिए।

११

वर्णान्तर-विवाह

१. बेटी-व्यवहार के विषय में संयम, सुख और वर्ण (अर्थात् पेशे की वरासत) की रक्षा की दृष्टि से अपने ही वर्ण में विवाह करने की मर्यादा साधारणतः इष्ट है। पर आज तो वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है। इस दशा में स्वधर्मियों के बीच गुण-कर्म को ध्यान में रखकर विवाह-संबंध करना उचित है। ऐसा वर्णान्तर-विवाह निर्दोष है।

२. परदेशी या परधर्मी के साथ विवाह करने में धर्म का प्रतिबंध नहीं है। पर उसमें अनेक विघ्न आने की संभावना होने से ऐसे संबंध अपवादरूप ही शोभा देते हैं और उसमें भी हेतु पारमार्थिक होना चाहिए।

खंड ४ : : सत्याग्रह

१

सत्याग्रही का कर्त्तव्य

१. दूसरे खंड में सत्याग्रह-संबंधी जो साधारण प्रकरण (तीसरा) है उसे पाठक इसके पहले फिर से देख जायं।

२. व्यक्ति और समाज का संबंध इस प्रकार का है कि जिस समाज से व्यक्ति का उद्भव होता है उस समाज की कुल मिलाकर धर्म में जितनी प्रगति हुई हो उससे व्यक्ति की प्रगति बहुत आगे नहीं बढ़ सकती। भूतकाल के किसी महापुरुष की तुलना में आज का महापुरुष धर्म-विचार या धर्म-साधन के किसी विषय में आगे बढ़ जाय तो इसका कारण बहुत-कुछ यही हो सकता है कि उस महापुरुष के समय के समाज की अपेक्षा आज का समाज उस तरह से धर्म-विचार और धर्मसाधना में आगे बढ़ा हुआ है। हम आशा रख सकते हैं कि इस तरह मानव-समाज में उत्तरोत्तर धर्म की शुद्धि होती रहेगी।

३. अतः यह संभव नहीं है कि अपने आसपास जो स्पष्ट अधर्म चल रहा हो उसकी ओर से अपनी आंखें बंद रखकर कोई आदमी अपनी बहुत अधिक आध्यात्मिक उन्नति कर ले।

४. इस प्रकार व्यक्ति को केवल अपने में ही सत्य-अहिंसादिक धर्मों की सिद्धि करनी हो तो भी समाज में प्रचलित अधर्म का विरोध करना उसका कर्त्तव्य होता है।

५. जिस अंशतक अपने अंदर सत्यादि गुणों का उत्कर्ष हुआ होगा उस हदतक उसका विरोध करना उसे अपना फर्ज जान पड़ेगा और उसमें वह अपनी शक्ति लगायगा।

२

सत्याग्रही की मर्यादा

१. सत्याग्रह का तत्त्व अभी पूर्ण विकसित शास्त्र नहीं बन पाया है। इसका प्रयोग अभी बाल्य अवस्था में है और इसका प्रयोग करने तथा इसकी शक्ति की शोध करने और उसे आजमानेवाला कोई पूर्ण शास्त्री अभी दिखाई नहीं देता।

२. इसलिए इसमें सब प्रकार के अधर्मों, अन्यायों, कलहों आदि के निवारण का कोई तुरंत बरतने लायक नुस्खा मिलने की आशा कोई न रखे। सत्य और अहिंसा में ये शक्तियां आवश्यक हैं, यह श्रद्धा रखकर सत्याग्रही उनकी खोज में प्रयत्नशील रहे।

३. इस बीच अनेक प्रकार के अधर्मों, अन्यायों, कलहों आदि के निवारण में इसकी असमर्थता देखकर न निराश हो, न निष्क्रिय बने।

४. अधर्मों को दूर करने के लिए जो यह सत्याग्रह का मार्ग नहीं ढूंढ़ सकता वह हिंसात्मक उपायों की योजना करता रहेगा। सत्याग्रही उन उपायों का केवल निषेध करे, या अपना शारीरिक अथवा आर्थिक सहयोग न देकर तटस्थ रहे तो इतने से उस हिंसा के लिए उसका नैतिक उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता। वह तभी उस जिम्मेदारी से मुक्त समझा जा सकता है जब वह अपनी अहिंसात्मक योजना पेश करे और उसे सिद्ध कर दिखाये।

५. इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्याग्रही का केवल निषेध करना या तटस्थ रहना हमेशा ही गलत समझा जायगा। कभी-कभी इतना और यही कर्त्तव्य हो सकता है।

६. पर ऐसे अवसर आ सकते हैं जब सत्याग्रही को हिंसा में कमोबेश सक्रिय भाग भी लेना पड़े। उदाहरण के लिए, अपराधी को सजा दिलाना, लड़ाई छिड़ने पर अपने राज्य की सहायता करना, आदि। जिस राज्य में वह रहता है और जिसमें रक्षण प्राप्त करता है उस राज्य को यदि वह अहिंसा का मार्ग नहीं दिखा सकता तो हिंसा का महज विरोध करने या

असहयोग करने से वह उस हिंसा की जिम्मेदारी से बच नहीं सकता।

७. पर ऐसी मदद करते हुए भी वह अपनी सहायता की रीति में अपने अंदर विद्यमान सारी सत्यनिष्ठा और अहिंसा-वृत्ति का परिचय दे और अहिंसात्मक मार्ग ढूंढ़ने का प्रयत्न करे।

३
सत्याग्रह का बुनियादी सिद्धांत

१. मनुष्य चाहे कितना ही स्वार्थान्ध हो जाय और कितने ही घातक या कुटिल उपायों से काम लेने को तैयार क्यों न हो गया हो, फिर भी उसके अंतस्तल में, सत्य ही सर्वोपरि है यह प्रतीति और इसलिए उसके प्रति आदर और भय बना ही रहता है। मनुष्यमात्र के हृदय में स्थित सत्य-विषयक यह गुप्त निश्चय, आदर और भय, यही सत्याग्रह-शास्त्र की बुनियाद है। इसीको मनुष्य के हृदय में रहनेवाली 'अंतःकरण की आवाज' कह सकते हैं।

२. स्वार्थ के वशीभूत मनुष्य अंतःकरण की इस आवाज की ओर दुर्लक्ष्य करने अथवा उसे दबा देने का कुछ समय तक प्रयत्न करता है। पर उसका विरोधी अगर सच्चा सत्याग्रही हो तो अंत में वह आवाज उसे सुननी ही होगी।

३. यह आवाज अनेक रूपों में उसके सामने प्रकट होती है। उसे अपने अन्याय का निश्चय हो जाना और उसके लिए पश्चात्ताप होना इसका श्रेष्ठ प्रकार है। इसीको 'हृदय-परिवर्तन' या दिल बदलना कहते हैं।

४. पर इससे कम तीव्रता से भी यह आवाज उठ सकती है, जैसे लोक-लज्जा के रूप में अथवा सर्वनाश के भय के रूप में।

५. जब सत्याग्रही का विरोधी कोई व्यक्ति-विशेष नहीं बल्कि एक राष्ट्र, जाति या व्यवस्था होती है तब ऐसा अंतर्नाद उसके किसी विशेष चरित्रवान व्यक्ति को पहले सुनाई पड़ता है और उसका हृदय-परिवर्तन पहले होता है। वह व्यक्ति फिर अपने भाईयों को वह आवाज सुनाता है

श्रौर सत्य का पक्ष लेकर उनका विरोध भी करता है।

६. विरोधी के हृदय को 'श्रंतःकरण की श्रावाज' के प्रति जागृत करना प्रत्येक सत्याग्रह का साध्य है। अन्याय को दूर करने के लिए विरोधी को जो-जो कदम उठाने चाहिए वे पीछे साध्य में से फल रूप में अपने-आप पैदा हो जाते हैं।

४

सत्याग्रह के सामान्य लक्षण

१. सत्य, अहिंसादि साधनों द्वारा ही अधर्म का विरोध किया जा सकता है, यह सामान्य नियम सर्वत्र लागू होता है।

२. अधर्म के नाश का धर्मयुक्त उपाय होना ही चाहिए, इस श्रद्धा से उत्कट रूप से विचार करनेवाले सत्याग्रही को विरोध करने की पद्धति मिल ही जाती है।

३. सत्याग्रह ऐसा उपाय है जिसमें सत्याग्रही के ही कष्ट उठाने की बात रहती है; विरोधी पक्ष को कष्ट देने का हेतु होता ही नहीं। इसलिए सत्याग्रही भूल करे तो उसके लिए उसीको आवश्यकता से अधिक कष्ट सहना पड़ता है।

४. पर इस कारण सत्याग्रह के फलस्वरूप विरोधी के साथ कटुता बढ़ती नहीं बल्कि घटती है, श्रौर सत्याग्रह के अंत में दोनों पक्ष मित्र बन जाते हैं।

५. अधर्म का विरोध करने के लिए सत्याग्रह की उचित रीति जबतक न सूझ जाय तबतक सत्याग्रही कोई कदम उठाने की जल्दी न करेगा, बल्कि शांति से ईश्वर की प्रार्थना श्रौर जनता की दूसरी सेवाएं करता रहेगा। वह यह श्रद्धा रखेगा कि ऐसा करते-करते उसे एक दिन स्पष्ट मार्ग सूझ जायगा श्रौर उस समय उसपर चलने का बल भी उसमें आ जायगा; अथवा ईश्वर ही अपनी अनेकविध शक्तियों के द्वारा उसका रास्ता निकाल देगा।

६. सत्याग्रह का शस्त्र संघ-बल पर अवलंबित नहीं होता। पर संघ-

बल उसकी शक्ति बढ़ा सकता है। सच्चे और गलत सत्याग्रह के बीच का भेद पहचानने की यह एक कुंजी है। सत्याग्रह की सूचना करनेवाला यदि अकेला पड़ जाय और अपनी सूचना पर अमल करने को तैयार न हो तो कहा जा सकता है कि वह सच्चा सत्याग्रही नहीं है। सच्चा सत्याग्रही अपने को स्पष्ट दिखाई देनेवाले पथ पर चलने को अकेला तैयार हो जाता है।

७. पर इससे यह भी न समझ लेना चाहिए कि कोई अकेला सत्याग्रह करने को तैयार हो जाता है तो वह सदा सही रास्ता ही पकड़ता है। फिर भी वैसी भूल का परिणाम तीसरे और चौथे पैराग्राफ में बताये अनुसार होता है।

८. सत्याग्रही झूठी प्रतिष्ठा के फेर में नहीं रहता। अपनी विचार-प्रणाली या योजना में गलती मालूम होने पर, वह चाहे जितना आगे बढ़ गया हो तो भी ठहर जाने में, अथवा जो 'पीछे हटना-सा' जान पड़े वैसा आचरण करने और अपनी भूल कबूल करने में, तथा जो हानि हो उसे सहन कर लेने या उसके लिए उचित प्रायश्चित्त स्वीकार करने में वह शर्माता नहीं, क्योंकि किसी भी दूसरे विचार या कारण को सत्याग्रही सत्य के सामने कम महत्व की वस्तु समझता है। इससे उसका इष्ट कार्य बिगड़ता नहीं बल्कि बनता है, और बाद को यह साबित होता है कि उसका जाहिरा 'पीछे हटना' दर-असल 'आगे बढ़ना' था।

५

सत्याग्रह के अवसर

नीचे दिये हुए नियमों को केवल दिशासूचक ही समझना चाहिए :

१. सत्याग्रही अपने ऊपर होनेवाले वैयक्तिक अन्याय के लिए झट सत्याग्रह करने नहीं जायगा। ऐसे अन्यायों को वह साधारणतः सह लेगा और सहन करते-करते विरोधी को प्रेम से जीतने की कोशिश करेगा। अपने साथ होनेवाले अन्याय की जड़ में कोई सामाजिक अहित की बात भी हो, तभी सामान्य रीति से सत्याग्रह द्वारा वह उसका विरोध करेगा।

२. इसी तरह व्यक्ति की ओर से होनेवाले अन्याय तथा समाज या सत्ताधारी की ओर से होनेवाले अन्याय इन दोनों में सत्याग्रही को भेद करने की आवश्यकता होती है । बलवान व्यक्ति द्वारा निर्बल का पीड़न इस अपूर्ण मानव-समाज में होता ही रहेगा । ऐसे हरएक झगड़े में सत्याग्रही का दखल देना मुमकिन नहीं । वहां उसे अपनी शक्ति, मर्यादा, अन्याय के प्रकार, उसके तात्कालिक महत्व, न्याय प्राप्त करने के सर्वसामान्य और आईनी साधनों आदि का विचार करना होगा । फिर भी, जहां स्पष्ट आवश्यकता दिखाई दे, वहां अपने प्राण देकर भी वह अन्याय को रोकने का यत्न करेगा ।

३. सामाजिक और राजनीतिक अन्यायों में भी विवेक की आवश्यकता होती है । एक अधर्म या अन्याय ऐसा होता है जिसमें कानून अधर्मी या अन्यायी नहीं होता, पर उसका अमल अधर्म या अन्यायपूर्वक होता है और अमल करनेवाला अपने अधर्म या अन्याय को उस कानून के नीचे ढंकता है अथवा उसे अपना हथियार बनाता है । इसमें उसे न्याय या धर्म का ढोंग करना पड़ता है । यह भी अपूर्ण मानव-समाज में होता ही रहेगा । मानव समाज में ज्यों-ज्यों सद्गुण और परस्पर समभाव की समष्टि रूप से वृद्धि होगी त्यों-त्यों यह स्थिति सुधरेगी । इसमें न्याय और धर्म का जोढ ोंग करना पड़ता है वही दंभ के आचरणकर्ता की सत्य को दी हुई श्रद्धांजलि है, यह मानकर संतोष करना पड़ता है। फिर भी ऐसा पाखंड सार्वत्रिक हो जाय तो उसके लिए भी सत्याग्रह का मौका और रास्ता निकल सकता है । जैसे, सर्वत्र दमन चलता हो तो अपना बचाव न करना बल्कि सजा भोग लेना, यही स्वतंत्र रूप से, सत्याग्रह की एक विधि हो सकती है ।

४. पर, जहां अन्याय या अधर्म बिल्कुल बेहयाई से—तुम्हें जो कुछ करना हो कर लो, इस भाव से होता हो, अथवा उसीको न्याय, धर्म या कानून का नाम दिया गया हो, वहां सत्याग्रह कर्त्तव्यरूप हो जाता है । कारण यह कि ऐसे अधर्म और अन्याय को सहन कर लेनेवाले की सत्त्वहानि होती है ।

६
सत्याग्रह के प्रकार

१. सत्याग्रह जितनी रीतियों से हो सकता है उन सबको गिनाया नहीं जा सकता। अधर्म का स्वरूप, उसकी तीव्रता, उसका आचरण करनेवाले व्यक्ति या समाज की विशेषताएं, उसका और अपना संबंध, हमारा तथा जिसका पक्ष हमने लिया है उसके जीवन में उस अधर्म को मिटा डालने में मिली हुई सिद्धि — सत्याग्रह की पद्धति, प्रकार और मात्रा इन सब बातों पर आश्रित होती है।

२. साधारणतः यह कहा जा सकता है कि एक कुटुंब में रहनेवाला व्यक्ति अधर्म करनेवाले दूसरे व्यक्तियों के साथ जिन-जिन पद्धतियों का अवलंबन कर सकता है वे सब पद्धतियां उचित रूप में समाज में भी बरती जा सकती हैं।

३. इस प्रकार इसमें समझाने-बुझाने से शुरू करके उपवास, असहयोग, सविनय-अवज्ञा, उस कुटुंब, समाज, राज्य इत्यादि का त्याग, अपने न्याय्य अधिकार का शांति के साथ उपयोग और यह सब करते हुए जो संकट आ जायं उनको सह लेना, इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं।

४. इनमें से उचित उपाय और उसकी उचित मात्रा के चुनाव में विवेक अथवा तारतम्य-बुद्धि से काम लेना चाहिए। यह अनुभव से आने-वाली बात है, पर कुछ उपयोगी सूचनाएं अगले प्रकरणों में दी गई हैं।

५. परंतु याद रहे कि सत्याग्रह ऐसी शक्ति है जिसका पूर्ण विकास अभी नहीं हो पाया है। जो तपस्वी मनसा-वाचा-कर्मणा, सत्य और अहिंसा का पालन करता हुआ इसकी शक्तियों की शोध में श्रम करेगा उसे इसके अनेक नये प्रकार मिलेंगे और उसे इसका बल अटूट जान पड़ेगा।

६. सत्याग्रह में युद्ध को रोकने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए। इस शक्ति का बाह्य रूप कैसा होगा यह आज नहीं कहा जा सकता। पर इसका अर्थ इतना ही है कि अधिक श्रद्धा रखकर इसकी शक्तियों के शोधन में श्रम करना चाहिए।

७

समझाना

१. विरोधी को समझाकर समाधान-भाव से काम करने का प्रयत्न करना सत्याग्रही का पहला लक्षण और सत्याग्रह की पहली सीढ़ी है।

२. इस तरह समझाने का एक भी उपाय वह उठा न रखेगा। इसमें वह अपने धीरज और उदारता की पराकाष्ठा दिखायगा। इसके लिए बिच-वई करनेवाले मित्रों की मध्यस्थता की वह अवगणना न करेगा, और जिनसे सिद्धांत का भंग न होता हो वैसी सभी छूटें देने को तैयार रहेगा।

३. समझाने का प्रयत्न निष्फल हो जाने पर और खास-तौर का कदम उठाने का समय आने पर वह विरोधी को आखिरी मौका दिये बिना आगे न बढ़ेगा।

४. आगे बढ़ने के बाद भी समझौते के लिए वह सदा तैयार रहेगा और ठगा जाने की जोखिम उठाकर भी वह अपनी समझौता-प्रियता और फिर से 'क' 'ख' से शुरू करने की तैयारी होने का सबूत देगा; क्योंकि सत्याग्रही असहयोगी बन जाय, विरोधी बन जाय, जोर की लड़ाई लड़ता हो, फिर भी अपनी रग-रग में व्याप्त सहयोग, मित्रता और सुलह की इच्छा को नहीं गंवायेगा।

५. जबतक विरोधी के अंतर में ऐसी आवाज न उठे जिससे उसका हृदय-परिवर्तन हो तबतक कुछ अन्यायों के दूर हो जाने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दिल साफ हो गया और सत्याग्रह का काम पूरा हो गया।

६. इस कारण, इस स्थिति से पहले होनेवाले समझौते में सत्याग्रही को कितनी ही छूटें देनी पड़ती हैं और कितने ही अन्यायों को पी जाना पड़ता है। ऐसा करने में सत्याग्रही असली अन्याय के विषय को छोड़े बिना, उसे दूर कराने की कोशिश में विरोधी की ओर से हुए दूसरे अन्यायों के प्रति उदार-वृत्ति दिखाता है।

८

उपवास

१. उपवास को सत्याग्रह के साधन के रूप में काम में लाने में अक्सर बहुत जल्दबाजी और भूलें होती हैं।

२. व्यक्ति के विरुद्ध किये गये सत्याग्रह में उपवास का जिस अंश तक उपयोग किया जा सकता है उस अंशतक" समाज अथवा व्यवस्था के विरुद्ध नहीं किया जा सकता।

३. व्यक्ति के मुकाबले भी उपवासरूपी सत्याग्रह विवश होने पर ही करना चाहिए। संभव है कि उपवास से विरोधी की न्याय या धर्मवृत्ति जाग्रत न होकर उसकी केवल कृपावृत्ति ही जागे, अथवा 'झगड़े का मुंह काला' करने के भाव से वह सत्याग्रही की 'जिद' पूरी कर दे। इसे सत्याग्रह की सफलता नहीं कह सकते।

४. व्यक्ति के प्रति किये गये सत्याग्रह में यदि उस व्यक्ति से पहले का कोई निजी अथवा मित्रता का संबंध न हो तो उपवास के उपाय से काम लेना उचित नहीं है।

५. साधारणत: यह कहा जा सकता है कि उपवासरूप सत्याग्रह कुटुंबी, निजी मित्र, गुरु, शिष्य, गुरुभाई आदि निजी तौर पर परिचित लोगों के साथ ही किया जा सकता है। इसी प्रकार समाज अगर अपना ही हो और पहले उसके हाथों हुई सेवा से सत्याग्रही उसका आदरपात्र हो गया हो, तभी उस समाज के अन्याय के प्रति उपवासरूप सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. व्यक्ति के प्रति किये जानेवाले सत्याग्रह में निजी अन्याय के लिए तो कभी उपवास करना ही न चाहिए। वह व्यक्ति अगर हमारे साथ मित्रता का दावा रखता हो और किसी तीसरे व्यक्ति या वर्ग के या स्वयं अपने प्रति कोई अनुचित आचरण उनसे हो रहा हो, तो दूसरे उपाय आजमाने के बाद उपवास किया जा सकता है।

७. व्यवस्था के विरुद्ध किये गये सत्याग्रह में उपवास आखिरी कदम है। जब सत्याग्रही पराधीन स्थिति में हो और सत्याग्रह के दूसरे उपायों का रास्ता उसके लिए बंद हो, तथा व्यवस्था द्वारा होनेवाला अधर्म उसे इतनी पीड़ा दे कि अधर्म या अन्याय को सहन करके जीना सत्त्वहीन बनकर जीने-जैसा हो जाय, तब प्राण छोड़ देने को तैयार होकर ही वह अनशन आरंभ कर सकता है।

८. ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है, इसका निर्णय करने में वह बहुत भावुकता से काम न लेगा; बल्कि उस व्यवस्था को चलानेवाले व्यक्तियों की कठिनाइयों का तथा उनकी पुरानी आदतों का भी उचित विचार करेगा और उनके लिए मुनासिब गुंजाइश रखेगा। फिर अनिवार्य और आकस्मिक अन्याय, और जान-बूझकर किये अन्याय अथवा अन्यायकारी नियमों में भी वह विवेक करेगा। इसके सिवा, इनमें भी निजी अन्यायों को वह दिल कड़ा करके सहन कर लेगा। कारण यह कि मनुष्य जब जान-बूझकर अन्याय को सहन करता है तब उसकी सत्त्वहानि नहीं होती, पर जब दीनता, भय अथवा सिर्फ जीते रहने के मोह से अन्याय को सहता है तब सत्त्वहानि होती है।

९. एक ओर से सत्याग्रह के रूप में उपवास आरंभ करना और दूसरी ओर से अपनी मांग मंजूर कराने के लिए विरोधी के अफसरों से उनपर दबाव डलवाने की कोशिश करना ठीक नहीं है। ऐसे उपवास को सत्याग्रह नहीं कह सकते।

१०. अपने तथा अपने मित्रों या साथियों के दोषों के प्रायश्चित्त रूप में या मित्रों, साथियों को उनकी किसी शुद्ध प्रतिज्ञा पर दृढ़ रखने के लिए उपवास करना प्रस्तुत प्रकरण के अर्थ में सत्याग्रह नहीं किंतु तपश्चर्या है। विवेकपूर्वक की गई ऐसी तपश्चर्या के लिए जीवन में स्थान है; पर उसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है।

६

असहयोग

१. जहां पहले सहयोग से दोनों पक्षों का काम चलता आया हो वहीं असहयोगरूपी सत्याग्रह आजमाया जा सकता है।

२. इसमें असहयोगी की सहायता के बिना जहां विपक्षी का काम चल सकता है वहां असहयोग का अर्थ दूसरे पक्ष का त्याग अथवा अपने भर की शुद्धि इतना ही होता है। सत्याग्रह में इसकी भी गुंजाइश है। जैसे, मालिक को दूसरे बहुत नौकर मिल सकते हैं फिर भी मालिक के अधर्म में हाथ बटाने की इच्छा न रखनेवाला नौकर अपना इस्तीफा पेश कर दे, अथवा दूसरे बहुत-से लोग शराबखाना चलाने को तैयार बैठे हों फिर भी कोई कलाल का पेशा छोड़ दे तो यह इस प्रकार का असहयोग कहलायगा। इसी प्रकार अधर्म में हठपूर्वक रहनेवाले कुटुंबी, मित्र, इत्यादि का त्याग भी ऐसा ही सत्याग्रह है।

३. जहां ऐसी परिस्थिति हो कि हमारी मदद के बिना दूसरे पक्ष का काम चल ही न सकता हो वहां असहयोग बहुत ही उग्र सत्याग्रह है। अतः वह तभी आरंभ किया जा सकता है जब सत्याग्रही को अपना मार्ग स्पष्ट धर्मरूप जान पड़े। इसमें विपक्षी का काम मेरे बिना नहीं चल सकता यह बात सत्याग्रही भूलता नहीं और इस वस्तु-स्थिति में उसे अपना बल दिखाई देता है। इससे विपक्षी को परेशान करने के लिए भी इसका उपयोग होने की संभावना है।

४. जब विपक्षी अपने सहयोग का सर्वथा दुरुपयोग करता जान पड़े और उसके द्वारा निर्दोषों को पीड़ा पहुंचती दिखाई दे तब तो ऐसा असहयोग उचित और आवश्यक ही हो जाता है।

५. असहयोग में विरोधी के जो-जो काम उसकी प्रत्यक्ष सहायता के बिना न चल सकते हों उन सबमें से वह अपनी सहायता हटा लेगा। जहां उसकी प्रत्यक्ष सहायता न मिलती हो पर विरोधी को महत्व मिलता हो

या उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती हो वहां भी वह ऐसी सहायता हटा लेगा और इससे स्वयं उसको जो लाभ मिलता हो वह छोड़ देगा।

६. विरोधी अपनी योजना सत्याग्रही पक्ष की सहायता के बिना नहीं चला सकता यह अनुभव कराना इस असहयोग का लक्ष्य है। इसलिए सत्य-अहिंसादि साधनों द्वारा यह असहयोग यहांतक बढ़ाया जा सकता है जिससे वह योजना या काम रुक जाय।

७. इस असहयोग में किस क्रम और कितनी तेजी से आगे बढ़ना चाहिए यह अनुभव से मालूम होता है। पर असहयोग का मार्ग ग्रहण करनेवाले को यह प्रतीति हो जानी चाहिए कि विरोधी का काम अथवा व्यवस्था इतनी दूषित है कि उसकी जगह दूसरी व्यवस्था तुरंत न हो सके तो भी वर्तमान व्यवस्था का टूट जाना अधिक इष्ट है।

८. असहयोग का दुरुपयोग होना संभव है, इसलिए सत्याग्रही असहयोग और अ-सत्याग्रही असहयोग का भेद सावधानतापूर्वक समझ लेने की आवश्यकता है। सत्याग्रह में कष्ट-सहन की बात रहती ही है, इसलिए यदि असहयोग करनेवाले को कुछ भी कष्ट न उठाना पड़े तो उस असहयोग के सत्याग्रह न होने की बहुत संभावना है।

१०

सविनय अवज्ञा

१. सविनय अवज्ञा दो तरह की हो सकती है—किसी विशेष अन्यायकारी हुक्म या कानून की, केवल उसी हुक्म या कानून को रद्द कराने भर के लिए और असहयोग के ही खास कदम की भांति, अन्याय—अधर्म किये अथवा निर्दोष या तटस्थ जनता को अनुचित असुविधा पहुंचाये बिना तोड़े जा सकनेवाले, आमतौर से तमाम कानूनों की है।

२. मनुष्य चोरी से किसी कानून के डर से ही दूर नहीं रहता बल्कि उसे अधर्म समझकर ही बचता है। अत: सविनय अवज्ञा में ऐसे कानून नहीं तोड़े जा सकते।

३. गाड़ी को सड़क के गलत बाजू से न चलाना, रास्तों पर श्रावामगन का नियमन करने के लिए तैनात पुलिस के सिपाही की श्राज्ञा मानना, रात को देर तक शोरगुल न मचाना, महत्व के कारण बिना रेल की जंजीर न खींचना, इत्यादि हुक्मों को तोड़ने से निर्दोष तथा तटस्थ मनुष्यों को अनुचित असुविधा होती है, इसलिए ऐसी आज्ञाओं को भी भंग नहीं किया जा सकता।

४. किंतु मनुष्य के राज्य के प्रति असंतोष न दिखाने के दो कारण हो सकते हैं—राज्य से उसे संतोष हो और इस कारण उसके प्रति उसकी भक्ति हो, अथवा कानून से डरकर। सत्याग्रही कानून से डरकर सरकार के प्रति असंतोष प्रदर्शित करने से न रुकेगा, और कहीं सविनय-अवज्ञा की आवश्यकता उपस्थित होने पर तो ऐसे कानून का तोड़ना फर्ज भी हो सकता है।

५. उसी प्रकार उचित सीमा के अंदर रहकर, अपने देश के किसी भी हिस्से में जाना और रहना तथा शांतिपूर्ण जुलूस निकालना, सभा-सम्मेलन, जन-सेवा के कार्य, अनुचित कार्यों अथवा बुराइयों के खिलाफ पिकेटिंग आदि करना या इनका आयोजन जनता का साधारण अधिकार है; इस हक पर सरकार की ओर से प्रतिबंध हो तो सत्याग्रही उस आज्ञा को निम्न-लिखित कारणों से मानता है –

(अ) सरकार प्रतिबंध की आज्ञा के लिए जो दलीलें देती हैं वे उसे वाजिब मालूम होती हों अथवा

(आ) ऐसे हुक्मों के तोड़े जाने में सरकार और जनता के झगड़े में मूल विषय किनारे रह जाते हों और दूसरे अप्रस्तुत विषय महत्व प्राप्त कर लेते हों, और जनता का ध्यान असली विषय की तरफ से हटकर इन छोटी-छोटी बातों पर लग जाने की संभावना हो। ऐसे कारण न होने पर ऐसी आज्ञा का सविनय अवज्ञा-रूप सत्याग्रह किया जा सकता है।

६. इसी तरह सत्याग्रही सरकार को इसलिए कर देता है कि उस राज्य को कायम रखना वह इष्ट समझता है। पर यदि उसे यह निश्चय

हो जाय कि राज्यव्यवस्था का नाश करना ही धर्म है तो उस राज्य को कर देने के कानूनों को वह तोड़ सकता है; परंतु इसीके साथ उस राज्य से किसी तरह का फायदा वह कोशिश करके न उठायगा।

७. जहां प्रजासत्तात्मक शासन-पद्धति हो, या सरकार और जनता में सामान्यतः सहयोग हो, अथवा तीव्र आंदोलन का अभाव हो, वहां भी अधिकारियों द्वारा व्यक्तिगत गलतफहमी से अथवा हुकूमत के नशे में, अन्यायकारी आज्ञाएं निकाली जाने की संभावना रहती है। ऐसी फुटकर अन्यायी आज्ञाओं को सदा सविनय अवज्ञा का विषय बनाना उचित नहीं। यह नहीं मान लेना चाहिए कि ऐसे अन्यायों को सह लेने से हानि होती है। उलटे, उस समय जनता तथा नेताओं द्वारा दिखाया हुआ धीरज और उदारता जनता को अच्छी शिक्षा देनेवाली साबित होती है। जो इस प्रकार भय से नहीं बल्कि जान-बूझकर, अन्यायों को सह लेना और आज्ञा का पालन करना जानते हैं वही मौका पड़ने पर, सविनय अवज्ञा भी उत्तम रीति से कर सकते हैं।

८. यदि सविनय अवज्ञा का आंदोलन ऐसा रूप ग्रहण कर ले जिससे विरोधी अथवा तटस्थ लोगों के जान-माल को हानि पहुंचती हो या बेकसूर सताये जाते हों और सत्याग्रही यह अनुभव करे कि वह इसे रोकने में असमर्थ है तो वह आंदोलन को स्थगित कर देगा और अपनी सारी ताकत उस हानि और उत्पीड़न को रोकने में लगा देगा।

११

सत्याग्रही का अदालत में व्यवहार

१. कानून की सविनय अवज्ञा का संकल्प करनेवाले सत्याग्रही को उस अवज्ञा के फलस्वरूप हो सकनेवाली पूरी सजा भुगतने को तैयार रहना ही चाहिए।

२. अतः जब किसी ऐसे कानून को भंग करने का इलजाम लगाकर अधिकारी उसे पकड़ने आयें तो वह बिना किसी आनाकानी के गिरफ्तार

हो जाय।

३. अगर असलियत यह हो कि सत्याग्रही ने कानून तोड़ा ही न हो, फिर भी उसके खिलाफ झूठा सबूत पेश करके यह दिखाया जाय कि उसने कानून तोड़ा है, तो सत्याग्रही को चाहिए कि वह अदालत की कारंवाई में कोई भाग न ले और अपना बचाव भी न करे। खुद उसका विचार उस कानून को तोड़ने का था ही, इसलिए बिना तोड़े ही जो सजा उसे मिल रही हो, उसका उसे स्वागत ही करना चाहिए।

४. कानून तोड़ा ही हो, तो उसे चाहिए कि अपना अपराध स्वीकार कर ले और सजा मांग ले।

५. सफाई न देने के विषय में नीचे लिखे अपवाद हैं—

(अ) सत्याग्रह-सिद्धांत के विरुद्ध होने के कारण, जिस प्रकार के अपराध के करने का उसने अभी इरादा ही नहीं किया हो वैसे अपराध का इलजाम उसपर लगाया जाय, तो सत्य की खातिर वह सफाई पेश करे; जैसे कत्ल के इलजाम में।

(आ) सत्याग्रहियों अथवा अधिकारियों के व्यवहार या नीति की कोई ऐसी बात पैदा हो गई हो जो सिद्धांत या सार्वजनिक महत्व का विषय हो और उसमें सत्य प्रकट होने की आवश्यकता जान पड़ती हो, तो वहां सफाई देनी पड़ती है। जैसे, जब पुलिस ने अत्याचार किया है इस बात की दिलजमई करके सत्याग्रही ने यह हकीकत जाहिर की हो, पर इस बात को गलत बताकर झूठी बात प्रकाशित करने का अभियोग उसपर चलाया गया हो, अथवा जब सत्याग्रही पर मार-काट और दंगे-फ़िसाद को उत्तेजन देने का इलजाम लगाया गया हो।

(इ) जहां ऐसा जान पड़ता हो कि अधिकारियों ने उत्साह के अतिरेक में या भ्रम से ऐसे हुक्म निकाले हों, जिनके बारे में यह मानने के लिए कारण हो कि सरकार का इरादा वैसे हुक्म निकालने का नहीं था, और जिन कानूनों की रू से वे निकाले गये हों, वे कानून वैसे अधिकार अधिकारियों को देते हैं यह न माना जा सकता हो तथा उन हुक्मों की बदौलत ऐसे साधारण लोगों

के भी भारी संकट में पड़ने की संभावना हो, जिनका इरादा सत्याग्रह करने का न हो, वहां सफाई पेश करने की आवश्यकता उपस्थित हो सकती है।

६. सत्याग्रही अदालत के काम में भाग न ले इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अदालत के प्रति तुच्छता या अविनय का व्यवहार करे, अथवा असत्याचरण करे। अतः उसे किसी अधिकारी का अपमान या उपहास न करना चाहिए और न उसे तुच्छतासूचक उत्तर देना चाहिए। इसके सिवा वह अपना नाम-धाम न छिपाये; परंतु यदि अधिकारी मामले से संबंध न रखनेवाली अथवा दूसरे अभियुक्तों या मनुष्यों से संबंध रखनेवाली बातें पूछें, तो सत्याग्रही उनका उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं है और ऐसे जवाब देने से उसे विनयपूर्वक इन्कार कर देना चाहिए।

७. जबतक सत्याग्रही पुलिस की हिरासत में होता है, तबतक उसे नहलाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने तथा सलाहकार और मित्रों से मिलने की सुविधा देना और उसके प्रति सभ्यता का व्यवहार करना पुलिस का फर्ज है। उसी प्रकार सत्याग्रही का कर्तव्य है कि वह पुलिस के साथ शिष्टता का व्यवहार करे। अगर पुलिस की ओर से अड़चनें पैदा की जायं, कष्ट दिया जाय, असभ्यता का बर्त्ताव या मारपीट की जाय, तो सत्याग्रही को चाहिए कि वह इसकी सूचना पुलिस के बड़े अफसर को (वह मिल सके तो) दे, और वह न मिल सके या ध्यान न दे, तो अपनी शिकायत मजिस्ट्रेट के सामने रखे। लेकिन मजिस्ट्रेट भी उसपर ध्यान न दे, तो यह मानकर कि तकलीफें सरकार की सम्मति से दी जा रही हैं, अपने सलाहकारों को सारी हकीकत से आगाह करके शांत रहना चाहिए।

८. यदि सत्याग्रही को जुर्माने की सजा दी जाय, तो वह खुद कभी जुर्माना जमा न करे और न किसीको जमा करने की प्रेरणा करे, बल्कि जमा न करने का धर्म समझाये और उसके एवज में कैद की सजा भुगत ले।

९. जुर्माना वसूल करने के लिए उसके घर यदि कुर्की ले जाई जाय, तो अपना माल-असबाब कुर्क हो जाने दे और इससे अधिक हानि होती हो, तो वह भी सह ले, पर खुद जुर्माना अदा न करे। क्योंकि जिसने अपनी सत्त्व-

रक्षा के लिए कानून तोड़ा है, उसे उसके लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहना चाहिए। इस कारण अपने हाथों जुर्माना अदा न करके वह अपनी सत्त्वहानि न होने देगा।

१०. सत्याग्रही ऊंचा दर्जा प्राप्त करने का प्रयत्न न करे। वर्गीकरण के नियमों के पीछे कुछ अंशतक सत्याग्रहियों और मामूली कैदियों में, तथा सत्याग्रहियों में परस्पर भेद डालने का हेतु रहता है। उसमें ईर्ष्या, भय और लोभ भी आते हैं। इसके सिवा इसका उपयोग भी अक्सर मनमाने तौर पर और नीचे का दर्जा देकर अधिक सजा देने के लिए किया जाता है। इसलिए वर्गीकरण की यह नीति ही उचित नहीं है। फिर भी सत्याग्रही को जो श्रेणी मिली हो, उसकी सुविधा वह भोगता हो, तो यह नहीं कह सकते कि इसमें सत्य का भंग होता ही है।

१२
सत्याग्रही का जेल में व्यवहार

१. सत्याग्रही जेल में भी अपनी शिष्टता और विनय कदापि न छोड़े।

२. जेल के नियमों को भंग करने की नहीं, बल्कि साधारणतः पालन करने की वृत्ति रखे और जहां किसी महत्व के सिद्धांत या स्वाभिमान का प्रश्न हो, वहीं नियम का विरोध करने को उद्यत हो। इस दृष्टि से वह कोई चीज चोरी से जेल में न लाये, किसीको घूस न दे तथा नियम के बाहर किसी प्रकार की सुविधा प्राप्त करने के लिए किसीकी खुशामद न करे।

३. श्रम करना जेल का ही नहीं बल्कि प्रकृति या धर्म का नियम है। अतः जेल के नियमानुसार दिया हुआ काम स्वीकार करने तथा करने में सत्याग्रही जी न चुराये।

४. जो काम समय की अवधि के अंदर अपनी तबीयत खराब होने या दूसरे कारण से पूरा न कर सकता हो, उसकी ओर उस काम के अधिकारी का विनयपूर्वक ध्यान दिलाये। फिर भी वह काम उसे सौंपा जाय, तो उस

करने का यत्न करे और जो कष्ट हो वह सह ले।

५. डाक्टरी जांच में उसे अपने रोग सही-सही बताने चाहिए। उसे कोई छूतवाली बीमारी हो तो उसे छिपाना न चाहिए।

६. कैदी अपने धर्म या नियम के विरुद्ध दवा या इलाज कराने को बाध्य नहीं है; पर इससे वह किसी दूसरी तरह की दवा या इलाज की अधिकारपूर्वक मांग नहीं कर सकता। टीका लगवाने जैसे कुछ इलाजों से इन्कार करने पर वह दंड का पात्र भी समझा जा सकता है। कैदी को अगर सच्चा धार्मिक आग्रह हो, तो उसे यह सजा भुगत लेनी चाहिए; पर महज सजा भुगत लेने को तैयार होने के कारण ही झूठ-मूठ उसे धार्मिक रूप देकर आग्रही न बने।

७. अपने स्वास्थ्य के संबंध में जो शिकायत हो और जिस सुविधा की आवश्यकता हो, उसे संबद्ध अधिकारी के सामने रखे। पर उसपर संतोष-जनक कार्रवाई न हो, तो उसे भी सत्याग्रह के कष्टों में मानकर शांति से सहन करे। ऐसी सुविधाएं चुरा-छिपाकर प्राप्त करके स्वास्थ्यरक्षा का प्रयत्न न करे। इस प्रकार स्वास्थ्य-रक्षा करने से अधिकारी यही समझेगा कि उसकी मांग अनुचित थी।

८. यदि उसके ऐसे कोई व्रत-नियम हों, जिनका पालन जेल में भी आवश्यक कर्तव्य हो तो, उनके बारे में संबद्ध अधिकारी से कहकर आवश्यक सुविधा मांग सकता है। पर ऐसे खास व्रत-नियमवाला व्यक्ति जेल के ही खर्चे से उसका पालन करने का आग्रह नहीं रख सकता, इसलिए यदि अपने खर्चे से ऐसी सुविधा मिल जाय, तो इससे उसे संतोष करना चाहिए। ऐसी सुविधा न मिले, तो अपने व्रत-नियम का पालन करने के लिए जो कष्ट उसे सहना पड़े वह सह लेना चाहिए।

९. केवल जेल-जीवन में पालने के लिए कोई खास व्रत-नियम सत्याग्रही को स्वीकार न करना चाहिए।

१०. मार या गाली अथवा जूठा, गंदा, कच्चा, सड़ा या कीड़े पड़ा हुआ खाना खा लेना कैदी का फर्ज नहीं है। अतः उसे ऐसी बातें सहन न कर लेनी

चाहिए। मार-पीट या गाली-गुफ़्ता की शिकायत की सुनवाई न हो, तो अधिक मार, गाली या सजा की जोखिम उठाकर भी वह काम करने से इन्कार कर सकता है और आवश्यक होने पर उपवास भी करे।

११. न खाने लायक खुराक लेने से वह इन्कार कर दे और उसके लिए जो सजा मिले भुगत ले।

१२. सत्याग्रही अपने या अपने ही वर्ग (क्लास) के कैदियों के लिए जेल-व्यवहार में सुधार होने या सुविधा मिलने के वास्ते सत्याग्रह न करे। हां, वह अन्याय-व्यवहार केवल उसके या उसके वर्ग के कैदियों के साथ ही किया जाता हो, तो बात दूसरी है। पर सारी जेल-व्यवस्था में जो सुधार कराने की आवश्यकता हो, सिर्फ उसीके लिए उचित कारण और परिस्थिति मिलने पर वह सत्याग्रह का सहारा ले सकता है।

१३. सत्याग्रही का इस प्रकार व्यवहार करना, जिससे जेल-व्यवस्था ठीक तौर से चलती रहे, सत्याग्रह के सिद्धांत का विरोध नहीं है, इसलिए इस तरह की सारी सहायता जेल-अधिकारियों को देना सत्याग्रही का धर्म है। पर सत्याग्रही जेल की वार्डरी या पहरेदारी आदि स्वीकार नहीं कर सकता।

१४. छूटने के दिन बढ़ाने के लिए सत्याग्रही लालसा न दिखाये।

१५. स्वराज्य के लिए किये जानेवाले सत्याग्रह का उद्देश्य सारी राज्य-व्यवस्था को जड़ से बदल देना है। इसलिए सत्याग्रही को जेल में कोई ऐसा आंदोलन न उठाना चाहिए, जिससे जेल-प्रबंध का सुधार एक स्वतंत्र लड़ाई बन जाय; किंतु अक्षम्य अमानुषी व्यवहार या नियम के खिलाफ ही, उसका अवसर आने पर, लड़ना चाहिए।

१३
सत्याग्रही की नियमावली

कुछ पुनरुक्ति दोष होते हुए भी २३ फरवरी, १९३९ के 'नवजीवन' में दी हुई 'सत्याग्रही की नियमावली' यहां देने से इस खंड की उचित पूर्ति

होगी। इसमें इस खंड का सुंदर उपसंहार भी होता है :

१. सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। यह आग्रह रखने से मनुष्य को अतुल बल मिलता है। इस बल को हम सत्याग्रह का नाम देते हैं।

२. सत्य का आग्रह सच्चा हो, तो उसे माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि के मुकाबले, राजा-प्रजा के मुकाबले और अंत को संपूर्ण जगत के मुकाबले काम में लाना पड़ता है।

३. ऐसा व्यापक आग्रह करते समय स्वजन-परजन, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष का भेद नहीं रहता। अतः किसीके विरुद्ध शरीर-बल का उपयोग नहीं किया जा सकता। तो जो बल बचा वह अहिंसा का—प्रेम का बल ही हो सकता है। इस बल का दूसरा नाम आत्मा का बल है।

४. प्रेम का बल दूसरे को नहीं जलाता, खुद ही जलता है। इसलिए सत्याग्रही में मौत तक का कष्ट हँसते-हँसते सह लेने की शक्ति होनी चाहिए।

५. इससे यह स्पष्ट है कि सत्याग्रही प्रतिपक्षी का आत्यंतिक विरोध करते हुए भी मन, वचन या काया से विपक्ष के किसी भी व्यक्ति का अहित न चाहे और न करे। इस विचार-श्रेणी से ही असहयोग, सविनय अवज्ञा इत्यादि उत्पन्न हुए हैं।

६. सत्याग्रह की इस उत्पत्ति को जो याद रखेगा, वह नीचे लिखे नियमों को आसानी से समझ सकेगा :

(अ) सत्याग्रही किसीपर क्रोध न करेगा।

(आ) वह विरोधी का क्रोध सहन करेगा।

(इ) क्रोध सहन करते हुए वह विरोधी की मार सह लेगा, पर उसे कदापि न मारेगा। इसी प्रकार गुस्से में दी गई उचित या अनुचित आज्ञा को भी मार के या और किसी डर से न मानेगा।

(ई) सिपाही के पकड़ने आने पर वह खुशी से गिरफ्तार हो जायगा। अपनी माल-जायदाद जब्त करने आने पर वह आसानी से दे देगा।

(उ) दूसरे की संपत्ति अपने संरक्षण में होगी, तो उसका कब्जा वह मरते दम तक न छोड़ेगा, फिर भी कब्जा करने आनेवाले को मारेगा नहीं।

(ऊ) न मारने के मानी गाली न देना भी है।

(ए) इस दृष्टि से सत्याग्रही विरोधी का अपमान न करेगा।

आजकल प्रचलित कितने ही नारे हिंसक हैं और सत्याग्रही के लिए सर्वथा त्याज्य हैं।

(ऐ) सत्याग्रही ब्रिटेन के झंडे को सलामी नहीं देगा, पर उसका अपमान भी न करेगा। अधिकारी या किसी अंग्रेज का वह अपमान न करेगा।

(ओ) आंदोलन के सिलसिले में किसी अंग्रेज व किसी सरकारी कर्मचारी का कोई अपमान करे या उसपर हमला करे, तो सत्याग्रही अपनी जान जोखिम में डालकर उसकी रक्षा करेगा।

जेल-संबंधी

(औ) कैद हो जाने पर सत्याग्रही जेल के उन तमाम नियमों का पालन करेगा, जो आत्म-सम्मान के विरुद्ध न हों और अधिकारियों के साथ शिष्टता से व्यवहार करेगा। मसलन वह अधिकारियों को साधारणतः नमस्कार करेगा, पर वह नाक रगड़ने को कहेंगे, तो न रगड़ेगा। वह 'सरकार की जय' न बोलेगा। जेल का साफ-सुथरा भोजन, जिसमें कोई धार्मिक आपत्ति न हो, वह ले लेगा। सड़ा हुआ, कूड़ा-मिट्टी मिला हुआ, मैले बर्तन में परोसा हुआ या अपमानपूर्वक दिया हुआ खाना वह न लेगा।

(अं) सत्याग्रही खूनी कैदी और अपने में भेद न मानेगा। इसलिए उससे अपनेको ऊंचा मान या बतलाकर अपने लिए विशेष सुविधा न मांगेगा, पर शरीर या आत्मा की आवश्यकता की दृष्टि से जरूरी सुभीता मांगने का उसे अधिकार है।

(अः) जिसमें आत्मसम्मान का भंग न होता हो, वैसी रियायतें न पाने पर सत्याग्रही उपवास आदि न करे।

दल-संबंधी

(क) अपनी टुकड़ी के सरदार के जारी किये हुए संपूर्ण आदेशों का पालन सत्याग्रही खुशी से करेगा।

(ख) आदेश अपमान-जनक हो, द्वेष-प्रेरित या मूर्खता से भरा मालूम

होता हो, तो भी उसका पालन करके फिर ऊपरवाले अफसर से शिकायत करे। दल में शामिल होने से पहले शामिल होने की शर्तों पर विचार करने का अधिकार सत्याग्रही को है। पर शामिल हो जाने के बाद दल के कड़े-नरम नियमों और उनके नियमन का पालन धर्म हो जाता है। दल के समूचे व्यवहार में अनीति दिखाई दे, तो सत्याग्रही उससे अलग हो सकता है, पर उसमें रहकर नियम भंग करने का अधिकार उसे नहीं है।

(ग) किसी सत्याग्रही को किसीसे अपने आश्रितों के भरण-पोषण की आशा न रखनी चाहिए। किसीके लिए कोई प्रबंध हो जाय, तो उसे अनपेक्षित बात समझे। सत्याग्रही को अपनेको और अपने आश्रितों को ईश्वर की शरण में ही छोड़ना चाहिए। शरीर-बल के युद्ध में भी, जहां लाखों लोग लड़ते हैं, किसीका भरोसा नहीं रखा जाता। सत्याग्रह-युद्ध के बारे में तो कहना ही क्या ? सार्वभौम अनुभव यह है कि ऐसों को ईश्वर ने भूखों नहीं मरने दिया।

सांप्रदायिक झगड़ों में

(घ) सत्याग्रही साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़ों का कारण जान-बूझकर हर्गिज न बने।

(ङ) यदि सांप्रदायिक झगड़ा हो जाय, तो सत्याग्रही किसीकी तरफदारी न करे। जिधर न्याय देखे, उसकी मदद करे। वह खुद हिंदू होगा तो मुसलमान इत्यादि दूसरे मजहबवालों के प्रति उदारता दिखायेगा, और हिंदुओं के आक्रमण से उन्हें बचाते हुए अपने प्राण तक दे देगा। यदि मुसलमान आदि का हिंदू पर हमला हो, तो हिंदू की रक्षा करने में वह अपनी जान दे देगा, पर उनपर किये जानेवाले जवाबी हमले में हर्गिज शरीक न होगा।

(च) जिन प्रसंगों से सांप्रदायिक झगड़े उत्पन्न हो सकते हैं, उनसे वह अपनेको भरसक अलग रखेगा।

(छ) सत्याग्रही को यदि जुलूस निकालना हो, तो वह ऐसा कोई काम न करेगा जिससे किसी भी संप्रदाय का दिल दुखे। दूसरों के निकाले हुए

ऐसे जुलूसों में भी वह शरीक न होगा, जिससे किसी धर्म-संप्रदायवालों का दिल दुखता हो।

१४

सत्याग्रही की योग्यता

२६ मार्च, १९३९ के 'हरिजन-बंधु' में गांधीजी ने एक लेख में सत्याग्रही के लिए कम-से-कम निम्नलिखित योग्यताएं आवश्यक मानी हैं :

१. उसे ईश्वर पर ज्वलंत विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वही एकमात्र अटूट आधार है।

२. उसकी सत्य और अहिंसा में धर्मभाव से श्रद्धा होनी चाहिए और इसलिए मनुष्य-स्वभाव के अंदर बसनेवाली भलाई में उसका विश्वास होना चाहिए। इस भलाई को सत्य और प्रेम के द्वारा स्वयं दुख सहकर जाग्रत करने की वह सदा आशा रखे।

३. वह शुद्ध जीवन बितानेवाला हो तथा अपने लक्ष्य के लिए अपना जान-माल कुरबान करने को हमेशा तैयार रहे।

४. वह आदतन खादीधारी और साथ ही कातनेवाला हो। भारतवर्ष के लिए यह बहुत ही जरूरी चीज है।

५. वह निर्व्यसन हो और सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं से दूर रहे, जिससे उसकी बुद्धि सदा निर्मल और मन निश्चल रहे।

६. समय-समय पर बनाये गये अनुशासन के नियमों को वह प्रसन्नतापूर्वक और मन से पाले।

७. वह जेल-नियमों का पालन करे, सिर्फ उन नियमों को छोड़कर, जो उसके मानभंग के लिए ही खास तौर से गढ़े गये हों।

१५

सामुदायिक सत्याग्रह

कहीं भी सामुदायिक सत्याग्रह करने के लिए नीचे लिखी अनुकूलताएं आवश्यक हैं। इनके अभाव में सामुदायिक सत्याग्रह शुरू करने में मार-काट

मच जाने से आपस में और जिसके मुकाबले सत्याग्रह शुरू किया गया हो उससे वैर-विरोध बढ़ने का डर रहता है। और संभव है आखिर में बल-प्रयोग या दमन के कारण जनता भयभीत हो जाय तथा और ज्यादा दब जाय :

१. सत्याग्रह शुरू करने की इच्छा रखनेवाले नेताओं में परस्पर संपूर्ण विश्वास और विचारों की एकता होनी चाहिए। यदि एक-दूसरे की ईमानदारी पर शंका या नेता की विचारधारा पर अविश्वास या अर्द्धविश्वास हो, तो इसे सामुदायिक सत्याग्रह के लिए प्रतिकूल परिस्थिति समझना चाहिए।

२. यदि सत्याग्रह चलाने की इच्छा रखनेवाले नेताओं में भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारों के लोग हों, तो सत्याग्रह के तात्कालिक उद्देश्य के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनीतिक विचारों के वाद-विवाद या उस दृष्टि से की जानेवाली आलोचनाओं को बंद करने में सबको एकमत होना चाहिए।

३. सत्याग्रही नेताओं का जनता पर इतना काबू होना चाहिए कि लोग उनकी दी हुई हिदायतों पर खुशी से और लगन से अमल करें। उनकी मना की हुई बात या काम कभी न करें।

४. जनता का नेताओं पर इतना विश्वास होना चाहिए कि विरोधियों की ओर से उनके विषय में चाहे जैसी बातें कही-फैलाई जायं, पर उनसे अपने में बुद्धि-भेद न होने दे।

५. स्वराज्य अथवा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली प्राप्त करने के उद्देश्य से सत्याग्रह करना हो, तो सत्याग्रह आरंभ करने के पहले ही महत्व-वाले सांप्रदायिक प्रश्नों के बारे में समझौता हो जाना चाहिए। ऐसी परि-स्थिति न रहने देनी चाहिए कि ऐसे सवाल खड़े करके विरोधी पक्ष जनता में फूट डाल सके।

६. 'सत्याग्रही की योग्यता' वाले प्रकरण में बताई हुई शर्तों में विश्वास होते हुए जो उनका पालन नहीं कर सकते उन्हें सत्याग्रह के तीव्र अर्थात् जोखिमवाले कार्यक्रम में शरीक न होना चाहिए, पर बाहर रहकर वे जनता के विधायक कार्यक्रम को भलीभांति चलाते रहें और उसकी जिम्मेदारी

अपने ऊपर ले लें। आम जनता को उन्हें पूरा-पूरा सहयोग देना चाहिए।

७. सत्य और अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सांप्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, व्यापक खादी-प्रचार और मद्य-निषेध के विषय में यदि जनता में प्रबल बहुमत तथा सत्याग्रह में दिलचस्पी रखनेवालों में संपूर्ण एकमत न हो, तो सामुदायिक सत्याग्रह के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं मानी जा सकती। तबतक सच्चा स्वराज्य असंभव ही है।

८. सत्याग्रह की किसी भी लड़ाई के पूर्व और उसके दौरान में भी विरोधी व्यवस्था या अधिकारी के विषय में तिरस्कार का भाव न होना चाहिए, और ऐसा भाव पैदा करनेवाली भाषा का व्यवहार न करना चाहिए। यदि प्रचारकों को वैसा करने से रोका न जा सकता हो, तो यह अनुकूल परिस्थिति नहीं मानी जा सकती।

९. गुप्त प्रबंध किये बिना सत्याग्रह का जारी रहना शंकास्पद हो, तो यह अनुकूल स्थिति नहीं है।

१०. जबतक अनुकूल परिस्थिति न हो, तबतक चतुर्विध रचनात्मक कार्यक्रम तथा दूसरी लोकोपयोगी सेवा करते रहना ही स्वराज्य की साधना है। बहुत वर्षों तक ऐसा करना पड़े तो भी इसमें हानि नहीं है। इसे प्रगति ही कहेंगे, पीछे हटना नहीं।

खंड ५ : : स्वराज्य

१

रामराज्य

१. रामराज्य स्वराज्य का आदर्श है। इसका अर्थ है धर्म का राज्य अथवा न्याय और प्रेम का राज्य, अथवा अहिंसक स्वराज्य या जनता का स्वराज्य।

२. जनता के स्वराज्य का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति के स्वराज्य से उत्पन्न जनसत्तात्मक राज्य। ऐसा राज्य केवल प्रत्येक व्यक्ति का नागरिकता के नाते उसका जो धर्म है उसका पालन करने से ही उत्पन्न होता है।

३. (क) इस स्वराज्य में किसीको अपने अधिकार का खयाल तक नहीं होता। अधिकार आवश्यक होने पर खुद-ब-खुद दौड़ा चला आता है। इसमें लोगों के अपने हक जानने की जरूरत नहीं होती, पर अपना धर्म जानना और पालना आवश्यक होता है। कारण यह कि कोई कर्तव्य ऐसा नहीं है, जिसके अंत में कोई हक न हो और सच्चे हक अथवा अधिकार तो केवल पाले हुए धर्म में से ही पैदा होते हैं।

(ख) जो सेवाधर्म पालता है, उसीको नागरिकता का असली अधिकार मिलता है, और वही उसे पचा सकता है।

(ग) वैसे ही झूठ न बोलने का (अर्थात् सत्य का) और मारपीट न करने का (अर्थात् अहिंसा का) धर्म पालन करने से जो प्रतिष्ठा मिलती है, वह उसे बहुतेरे अधिकार दिला देती है और ऐसा मनुष्य अपने अधिकार का भी सेवा के लिए उपयोग करता है, स्वार्थ के लिए कदापि नहीं।

४. रामराज्य में एक ओर अथाह संपत्ति और दूसरी ओर करुणा-जनक फाकेकशी नहीं हो सकती; उसमें कोई भूखा मरनेवाला नहीं हो सकता; उस राज्य का आधार पशुबल न होगा, लोगों के प्रेम और समझ-

बूझकर और विना डर दिये हुए सहयोग पर अवलंवित रहेगा।

~५. उसमें बहुमत या बड़ी जाति अल्पमत या छोटी जाति को नहीं दबाती, वल्कि अल्पमत भी वहुमत जैसी ही स्वतंत्रता भोगेगा और बड़ी जाति छोटी जातियों के हित की रक्षा करना अपना फर्ज समझेगी।

६. वह करोड़ों का और करोड़ों के सुख के लिए चलनेवाला राज्य होता है। उसके विधान में जिसे मुख्य अधिकारी की जगह मिली होगी, वह चाहे राजा कहलाता हो, अध्यक्ष कहलाता हो या और कुछ कहलाता हो, वह प्रजा का सच्चा सेवक होने के नाते ही उस पद पर होगा। प्रजा के प्रेम से वहां टिकेगा और उसके कल्याण के लिए ही प्रयत्न करता रहेगा। वह जनता के धन पर गुलछर्रे नहीं उड़ायेगा और अधिकार बल से लोगों को सतायेगा नहीं; किंतु राजा या तत्सदृश कहलाते हुए भी वह फकीर के मानिंद रहेगा।

७. रामराज्य का अर्थ है कम-से-कम राज्य। उसमें लोग अपना बहुत-कुछ व्यवहार परस्पर मिलकर अपने-आप चलायेंगे। कानून गढ़-गढ़कर अधिकारियों द्वारा दंड के भय से उनका पालन करना उनमें लगभग नहीं होगा। उसमें सुधार करने के लिए जनता धारासभा या अधिकारियों की राह देखती बैठी न रहेगी, वल्कि लोगों के चलाये सुधारों के अनुकूल पड़नेवाले प्रकार से कानून में सुधार करने के लिए व्यवस्थापिका सभाएं और व्यवस्था करने के लिए अधिकारी यत्न करेंगे।

८. उसमें खेती का धंधा बढ़ती पर होगा। और दूसरे सब धंधे उसके सहारे टिकेंगे। अन्न और वस्त्र के विपय में लोग स्वाधीन होंगे और गाय-बैलों की भी समृद्ध दशा होने से आदर्श गो-रक्षा की व्यवस्था होगी।

९. उसमें सब धर्म, सब वर्ण और सब वर्ग समान भाव से मिल-जुलकर रहेंगे और धार्मिक झगड़े या क्षुद्र स्पर्धा, अथवा विरोधी-स्वार्थ सरीखी चीज ही न होगी।

१०. उस राज्य में स्त्री का पद पुरुष के समान ही होना चाहिए।

११. उसमें कोई मनुष्य संपत्ति या आलस्य के कारण निरुद्यमी न होगा, कोई मेहनत करते हुए भी भूखों मरनेवाला न होगा; किसीको उद्यम के

अभाव में मजबूरन आलसी न बने रहना पड़ेगा।

१२. उसमें आंतरिक कलह न होगा, और न विदेशों के साथ ही लड़ाई होगी। उसमें दूसरे देशों को लूटने की, जीतने की या उनके व्यापार-धंधे अथवा नीति को नाश करनेवाली राजनीति अस्वीकृत होनी चाहिए। वह दूसरे राष्ट्रों के साथ मित्र-भाव से रहेगा।

१३. अतः रामराज्य में फौजी खर्च कम-से-कम होना चाहिए।

१४. उसमें लोग केवल लिख-पढ़ सकनेवाले ही न होंगे, बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षा पाये हुए होंगे; अर्थात् उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो मुक्ति देनेवाली और मुक्ति में स्थिर रखनेवाली हो।

१५. यह एक ही देश या जनता के लिए नहीं, बल्कि सारी दुनिया के उत्तम राज्य का आदर्श है। यदि एक जगह भी यह सिद्ध हो जाय, तो फिर उसकी छूत सारी दुनिया में फैल जानी चाहिए।

१६. यह स्थिति आने पर भिन्न-भिन्न राज्यों में झगड़े का कारण ही न रहेगा। अर्थात् युद्ध जैसी चीज ही न रह सकेगी। सारे मतभेद, विरोध, झगड़े अहिंसक मार्ग से ही निपटा करेंगे।

२

व्यवस्था-सुधार और विधान-सुधार

१. व्यवस्था के सुधार और विधान के सुधार का सवाल एक ही नहीं है।

२. व्यवस्था के सुधार का अर्थ है, सत्ता का उपयोग करनेवाले अधिकारियों की प्रजा के प्रति व्यवहार करने की सारी मनोवृत्ति में सुधार होना।

३. विधान के सुधार में कानून बनाने के लिए और राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों पर निगरानी रखने तथा उसकी नीति निश्चित करने के लिए कितने लोगों के इकट्ठा होने की जरूरत है, उसकी नियुक्ति किस तरह होनी चाहिए, कहां बैठकर किस तरह उन्हें बहस-विचार करना चाहिए, आदि बातों का विचार किया जाता है।

४. कुछ दिनों से शासन-विधान के प्रश्न को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जा रहा है। इससे असली विषय को भूलकर हम राज्य के बाहरी रूप-रंग के विचार में उलझ जाते हैं।

५. शासन-विधान की बारीकियों तथा उसकी भिन्न-भिन्न योजनाओं के सूक्ष्म भेदों और उनका महत्व समझने की आशा देश के करोड़ों लोगों से नहीं रखी जा सकती। इसलिए वे इन विषयों में इतनी दिलचस्पी नहीं ले सकते कि उनपर स्वयं विचार करें।

६. देश का शासन-विधान राजसत्तात्मक कहलाता है या प्रजा-सत्तात्मक, साम्राज्य का अंग कहलाता है या स्वतंत्र, छः हजार प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है या छः सौ प्रतिनिधियों द्वारा, उसमें हिंदू अधिक हैं या मुसलमान, देश के करोड़ों अपढ़ ग्रामवासियों को इन विषयों का महत्व समझाना कठिन है और इन बातों की बहस में उन्हें घसीटने में बहुत लाभ भी नहीं जान पड़ता।

७. उनके लिए तो महत्व का प्रश्न यह है कि उनके गांव का मुखिया या पटवारी उनके पास हुकूमत का रोब दिखाने, धौंस जमाने और घूस मांगने आता है या उनका मित्र, सलाहकार और संकट का साथी बनकर रहता है, वह अपने-आपको लोगों को चाहे जैसे हांकने के लिए नियुक्त छोटा या बड़ा अफसर समझता है या जनता का सेवक मानता है।

८. इसके सिवा जनता के लिए महत्व का प्रश्न यह है कि उसके सिर पर कर का बोझ भारी है या हल्का, यह कर उससे किस प्रकार, किस रूप में और किस वक्त वसूल किया जाता है और इन करों का उपयोग किन कामों में होता है?

९. ऐसे सुधार केवल किसी विशेष प्रकार का विधान बना देने से नहीं हो जाते, बल्कि जिनपर उसे अमल में लाने की जिम्मेदारी आती है, उनके अंदर पोषित धर्म-बुद्धि और अपने मत को प्रभावकर बनाने के लिए जनता में जो पुरुषार्थ करने की शक्ति होती है, उससे होता है। शासन-विधान का बाह्य रूप कैसा ही हो, यदि अधिकारी धर्मबुद्धिवाला प्रजा-सेवक और

प्रजा पुरुषार्थी हो, तो राज्य की ओर से वहां अधिक समय तक अन्याय, जोर-जुल्म नहीं हो सकते।

३
सांप्रदायिक एकता

१. जबतक देश के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में एकता-मेल नहीं कराया जा सकता, तबतक स्वराज्य प्राप्त करना और उसे कायम रखना असंभव है।

२. इस एकता की स्थापना के लिए सबमें आजादी से रोटी-बेटी व्यवहार होना ही चाहिए, अथवा उनके भिन्न-भिन्न धर्मों और संस्कृतियों के भेद मिट जाने चाहिए और किसी एक ही धर्म की अथवा किसी भी धर्म का आधार न रखनेवाली संस्कृति निर्माण होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं है। इष्ट भी नहीं है। प्रत्येक जाति को अपनी-अपनी विशेषता कायम रखते हुए एकता करनी चाहिए।

३. परंतु इस एकता की स्थापना के लिए बड़े संप्रदायों का छोटे संप्रदायों को अभय देना जरूरी है। बड़े संप्रदायों को चाहिए कि छोटे संप्रदायों को इस बात का इतमीनान दिला दें कि बड़े संप्रदायों का रुख और विरद ऐसा होगा कि अगर न्याय और सार्वजनिक हित के विरुद्ध न हो, तो उनके धर्म, भाषा, साहित्य, मजहबी कानून, रस्म-रिवाज, शिक्षा, अर्थ-प्राप्ति के अवसर आदि विषयों में उन्हें हानि सहन न करनी पड़ेगी।

४. अगर स्थिति यह हो कि बड़े संप्रदाय को छोटे संप्रदाय से डर लगता हो, तो वह इस बात की सूचक है कि या तो (१) बड़े संप्रदाय के जीवन में किसी गहरी बुराई ने घर कर लिया है और छोटे संप्रदाय में पशुबल का मद उत्पन्न हुआ है (यह पशुबल राजसत्ता की बदौलत हो या स्वतंत्र हो), अथवा (२) बड़े संप्रदाय के हाथों कोई ऐसा अन्याय होता आ रहा है, जिसके कारण छोटे संप्रदाय में निराशा से उत्पन्न होनेवाला मर-मिटने का भाव पैदा हो गया है। दोनों का उपाय एक ही है—बड़ा संप्रदाय सत्याग्रह के

सिद्धांतों का अपने जीवन में आचरण करे। वह अपने अन्याय सत्याग्रही बनकर, चाहे जो कीमत चुकाकर भी दूर करे और छोटे संप्रदाय के पशुबल को अपनी कायरता को निकाल बाहर करके सत्याग्रह के द्वारा जीते।

५. जब दो संप्रदायों में लड़ाई हो जाय, तो सरकार या कानून की सहायता लेना जनता को निर्वीर्य बना देनेवाली बात है। भले ही दोनों जातियां एक-दूसरे का खून बहा लें और जब रक्तपात से जी भर जाय, तब शांति धारण करें, पर एक-दूसरे के खिलाफ फरियाद करने न दौड़ें। यह आदर्श स्थिति तो नहीं है, पर विदेशी सरकार या भाड़े के लोगों की मदद से 'शांति' की रक्षा कराने से तो यह अवस्था कम दुखद है।

६. जबतक छोटे संप्रदायों के मन में बड़े संप्रदायों की नीयत के बारे में शंका है, तबतक बड़े संप्रदाय को चाहिए कि वह छोटे संप्रदाय को जमानत दे। यही उसे वश में करने का अच्छे-से-अच्छा उपाय है। जमानत देने के मानी हैं जिन शर्तों को स्वीकार कर लेने से उन्हें निर्भयता प्रतीत हो, उन शर्तों को अधिक-से-अधिक जितना स्वीकार करना संभव हो, उतना कर लिया जाय।

७. अवश्य ही यह नियम वहीं लागू हो सकता है, जहां छोटा संप्रदाय बड़े संप्रदाय की अपेक्षा प्रगति में पीछे हो। जहां छोटा संप्रदाय ही अधिक समृद्ध और बलवान हो, वहां छोटा संप्रदाय बड़े संप्रदाय से अधिक या विशेष अधिकार पाने की मांग नहीं कर सकता।

८. छोटे संप्रदाय के पास यदि अधिक अधिकार, धन, विद्या, अनुभव आदि का बल हो और इस कारण बड़े संप्रदाय को उससे डर लगता रहता हो, तो उसका धर्म है कि शुद्ध भाव से बड़े संप्रदाय का हित करने में अपनी शक्ति का उपयोग करे। सब प्रकार की शक्तियां तभी पोषण-योग्य समझी जा सकती हैं, जब उनका उपयोग दूसरे के कल्याण के लिए हो। दुरुपयोग होने से वे विनाश के योग्य बनती हैं और चार दिन आगे या पीछे उनका विनाश होकर ही रहेगा।

९. सार्वजनिक संस्थाओं में कर्मचारियों, पदाधिकारियों आदि की

नियुक्ति में सांप्रदायिक दृष्टि से काम लेना उन विभागों की कार्य-कुशलता को नष्ट करने का रास्ता है। इसके लिए तो जात-पांत, धर्म इत्यादि किसी बात का विचार न करके, जो काम करता है, उसकी योग्यता देखना ही नियुक्ति का सिद्धांत होना चाहिए।

१०. ये सिद्धांत जिस प्रकार हिंदू-मुसलमान-सिख आदि छोटे-बड़े संप्रदायों पर घटित होते हैं, उसी प्रकार अमीर-गरीब, जमींदार-किसान, मालिक-नौकर, ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर इत्यादि छोटे-बड़े वर्गों के आपस के संबंधों पर भी घटित होते हैं।

४

अंग्रेजों के साथ संबंध

१. ब्रिटिश राज्य के साथ हिंदुस्तान का संबंध किस प्रकार का होना चाहिए, इसके निश्चय का अधिकार हिंदुस्तान की जनता को है। जबतक यह अधिकार न हो, स्वराज्य मिल गया यह नहीं कह सकते।

२. इस अधिकार-सहित ब्रिटिश साम्राज्य के साथ हिंदुस्तान का संबंध बना रहे, तो इससे पूर्ण स्वराज्य में न्यूनता नहीं मानी जायगी, क्योंकि उस स्थिति में हिंदुस्तान ब्रिटिश साम्राज्य के साथ समान अधिकार भोगता रहेगा, अर्थात् अपनी विशालता और महत्ता के अनुपात में वह साम्राज्य के दूसरे अंगों पर अपना प्रभाव डालता रहेगा।

३. हिंदुस्तान और ब्रिटिश साम्राज्य के बीच अगर ऐसा संबंध हो जाय और उसमें हिंदुस्तान की नीति सत्य और अहिंसा की पोषक रहे, तो ब्रिटिश साम्राज्य आज की भांति जगत के लिए भय की वस्तु न होगा, बल्कि सब राष्ट्रों को अभय देनेवाला हो सकता है।

४. पर यह स्थिति आने के पहले हिंदुस्तान को लंबा रास्ता तय करना होगा। उसे अपनी शक्ति और संस्कृति को पहचानकर, उसके प्रति वफादार रहकर, उस विषय की अपनी साधना पूरी करनी होगी। जबतक वह निर्बलता और कायरता का सहारा लेता है, तबतक यह असंभव है।

५. ब्रिटिश साम्राज्य आसुरी व्यवस्था है और उसका नाश होना ही चाहिए, यह ठीक है। पर ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश जाति एक चीज नहीं है। ब्रिटिश जाति में जगत की अथवा यूरोप की दूसरी जातियों से अधिक दोष या कम गुण नहीं हैं। इस जाति में अनेक आदरणीय और अनुकरणीय सद्गुण हैं और यदि आज के विषम संबंध के कारण हम उनकी कद्र न कर सकें, तो इसे दुर्भाग्य ही समझना होगा।

६. स्वराज्य-भारत में रहनेवाले अंग्रेज दूसरी अल्पसंख्यक जातियों-समुदायों की तरह रह सकते हैं। वे हिंदुस्तान की दूसरी जातियों की भांति हिंदुस्तानी बनकर देश की सेवा में अपना भाग अर्पण कर सकते हैं और पिछले प्रकरण में बताये हुए सिद्धांतों के अनुसार देश की दूसरी जातियों के साथ उनका संबंध रहेगा। पर यदि वे परदेशी बनकर ही रहना पसंद करें, तो हिंदुस्तान के हित के अनुकूल शर्तों पर ही वे हिंदुस्तान की नौकरी कर सकते हैं।

५

देशी राज्य

१. देशी राज्य आज अपने बल पर नहीं चल रहे हैं, बल्कि ब्रिटिश राज्य के बल पर टिके हुए हैं। उन्हें यह डर लगा रहता है कि ब्रिटिश राज्य न रहे, तो हमारी हस्ती भी न रहेगी। इसलिए वे ब्रिटिश राज्य को कायम रखने और उसके प्रति ब्रिटिश भारत की प्रजा से भी अधिक वफादारी दिखाने की कोशिश करते हैं।

२. पर यह अधिक वफादारी अधिक गुलाम-दशा का चिह्न है। इसके मूल में शुद्ध भक्ति नहीं बल्कि भ्रम-भरा और गंदा स्वार्थ है।

३. इसलिए देशी राज्यों की प्रजा की दशा दुहरी गुलामी की है। जैसे गुलामी की प्रथा में गुलामों का सेठ मालिक से भी अधिक कड़ाई करता है, वैसे ही हमारे देशी नरेश अपनी प्रजा के प्रति अधिक कठोरता दिखाते हैं, तो इसमें कोई नयापन नहीं।

४. इसका उपाय यही है कि ब्रिटिश भारत पहले स्वराज्य प्राप्त कर ले। जबतक ब्रिटिश भारत की जनता स्वतंत्र नहीं, तबतक देशी राज्य की प्रजा के संकट दूर करने का सामर्थ्य उसमें नहीं आयगा। अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र होने से ब्रिटिश भारत की जनता में शक्ति पैदा होगी। यह देशी राज्यों की आंखें खोल देगी। उस समय देशी राजाओं की समझ में आयगा कि ब्रिटिश बंदूकों के बलपर अपनी प्रजा को दबाये रखकर थोड़ा अधिकार भोगने या मौज उड़ाने की अपेक्षा निष्ठापूर्वक प्रजा की सेवा करने, उसके सुख-दुख और गरीबी में शरीक होकर प्रेम से उसके हृदय पर अपनी सत्ता जमाने में उनकी अपनी भी अधिक भलाई है।

५. जिन भारतीय नरेशों की आंखें इस तरह खुल जायंगी, वे खुद ही अपने राज्यों में सुधार करने लग जायंगे। जो इतने जड़, नासमझ होंगे कि उस समय भी न चेतेंगे, उनके राज्य नहीं टिकने के—इसे कहने की आवश्यकता नहीं। पर ऐसे जड़मति राजा भी तब आज-जैसी मनमानी तो हर्गिज न कर सकेंगे, क्योंकि स्वतंत्र हुए ब्रिटिश भारत तथा सुधरे हुए देशी राज्यों का एकत्र लोकमत इतना प्रबल होगा कि दुष्टों के लिए भी अपनी दुष्टता को लगाम लगाने के सिवा दूसरा चारा न होगा।

६. पुरुषार्थी और स्वतंत्र प्रजा के शिक्षित लोकमत में कितना अधिक बल होता है, सामाजिक व्यवहार में हमें इसका अनुभव होने पर भी आज हम इसे भूल गये हैं। पशुबल पर टिकी हुई सत्ताएं भी तभीतक अपने पशुबल का सहारा ले सकती हैं, जबतक लोकमत प्रबल न हो। जहां लोकमत का जबरदस्त प्रवाह है, वहां बड़ी-से-बड़ी सल्तनत का भी झुके बिना काम नहीं चलता।

७. यह लोकमत कितना बलवान है, इसका निदर्शक और कभी हार न देखनेवाला शस्त्र एक ही है और वह सत्याग्रह है। अपने मत के लिए मर मिटनेवाली जनता के सामने बड़े-बड़े मुकुटधारियों का भी झुके बिना काम चलता नहीं।

६

देश की रक्षा

१. स्वराज्य में भारत के पास देश की रक्षा करने का बल न होगा, यह ख़याल गलत है।

२. अहिंसा-धर्म को समझकर उसका ठीक-ठीक पालन करनेवाली जनता को देश-रक्षा के साधन-स्वरूप तोप, बंदूक, जंगी बेड़े आदि की जरूरत ही न होगी। पर आज तो यह स्थिति कल्पना में ही विद्यमान मानी जा सकती है।

३. फिर भी स्वातंत्र्यप्राप्त और परराष्ट्रों के साथ मेल-जोल से रहने तथा उनके निर्वाह के साधनों पर आक्रमण न करने की नीति बरतनेवाले हिंदुस्तान को आज के जैसे और आज के जितने सैनिक साधनों और सेना की जरूरत न होगी।

४. स्वराज्य में मर्यादा और बंधन के अंदर हर योग्य आदमी को हथियार रखने की इजाजत रहेगी। दूसरों के आक्रमण के खतरे में ही इसका (स्वराज्य का) कारबार नहीं चलेगा। अतः वह इतनी सेना और साधन तो तैयार रखेगा ही कि अकल्पित आक्रमण या वैसी परिस्थिति में हुए पहले हमले को रोक सके और पीछे आवश्यक हो ही जाय, तो देश को तेजी के साथ तैयार कर लेने की आशा रखेगा।

५. अगर हम जनता को इस तरह शिक्षा देने का प्रबंध कर और उसमें सफल हो सकें कि देश के बहुतेरे काम-काज वह कानून और अधिकारियों की राह देखे बिना स्वेच्छा से सावधान रहकर कर लेती हो, तो उस स्थिति में देश में ऐसे स्वयं-सेवकों के मंडल होंगे, जिनके जीवन का मुख्य कार्य ही होगा जनता की सेवा करना और उसके लिए अपना बलिदान कर देना। ये ऐसे दल न होंगे, जो केवल लड़ाई लड़ना ही जानते हों; बल्कि प्रजा को तालीम देनेवाले और उसकी व्यवस्था, व्यवहार और सुख-सुविधा को संभाल रखनेवाले दल होंगे। देश पर कोई विपद आने पर पहला वार वे अपने ऊपर लेंगे।

६. स्वराज्य में अगर देश की सेना से जनता को खुद ही भयभीत रहना पड़े और उसीपर सैनिकों की गोलियां चलें, तो वह स्वराज्य या राम-राज्य नहीं बल्कि शैतान का राज्य होगा। सत्याग्रही का धर्म उस राज्य का भी विरोध करना ही होगा।

७. देश का सिपाही प्रजा का मित्र हो, प्रजा की आपत्ति के समय उसके लिए प्राण देनेवाला हो, तो वह क्षत्रिय है, पर यदि वह प्रजा को डरानेवाला और शरीर या शस्त्र के बल से उसे पीड़ित करनेवाला हो, तो वह लुटेरा है। यदि राज्य की ओर से उसे आश्रय मिलता हो, तो वह लुटेरों का राज्य है।

खंड ६ : : वाणिज्य

१

पश्चिमी अर्थशास्त्र

१. पश्चिम का अर्थशास्त्र गलत दृष्टिबिंदुओं से रचा गया है, इसलिए वह अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि अनर्थशास्त्र हो गया है।

२. वे गलत दृष्टिबिंदु ये हैं :

(अ) उसने भोगविलास की विविधता और बहुलता को संस्कृति का प्राण माना है।

(आ) वह दावा तो करता है ऐसे अचल सिद्धांत निकालने का, जो सब देशों और सब कालों पर घटित होते हों, परंतु वास्तव में वह यूरोप के छोटे, ठंडे और खेती के लिए कम अनुकूलतावाले देशों के घनी आबादीवाले होते हुए भी मुट्ठीभर लोगों की अथवा बहुत थोड़ी आबादीवाले उपजाऊ बड़े खंडों की परिस्थिति के अनुभव के आधार पर ही बना है।

(इ) पुस्तकों में भले ही निषेध किया गया हो, पर योजना और व्यवहार में वह (क) व्यक्ति, वर्ग या बहुत आगे बढ़े तो अपने नन्हें-से देश के ही अर्थ-लाभ को प्रधानता देनेवाली और उसके हित की पुष्टि करनेवाली नीति ही अर्थशास्त्र का अचल शास्त्रीय सिद्धांत है, यह मानने और मनवाने की तथा (ख) कीमती धातुओं को हद से ज्यादा महत्व देने की पुरानी लीक में से आज भी नहीं निकल पाया है।

(ई) उसकी विचार-सरणि में अर्थ का नीति-धर्म से कोई संबंध नहीं रह गया है, इस कारण जीवन के अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्व के विषयों को गौण समझने की आदत उसने जनता में डाली है।

३. इसके फलस्वरूप—

(अ) यह अर्थशास्त्र यंत्रों, नगरों तथा (खेती की अपेक्षा) उद्योगों का अंधपूजक बन गया है।

(आ) इसने जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों और भिन्न-भिन्न देशों में समन्वय स्थापित करने के बजाय विरोध उत्पन्न किया है और सर्वोदय, सबके हित, के बदले थोड़े-से लोगों का थोड़े समय के लिए ही लाभ किया है।

(इ) यह पिछड़े समझे जानेवाले देशों में आर्थिक लूट मचाकर तथा वहां के लोगों को व्यसन में फंसाकर और उनका नैतिक अधःपात करके समृद्धि का रास्ता निकालना चाहता है।

(ई) इस अर्थशास्त्र को स्वीकार करनेवाली जनता पशुबल के भरोसे ही जीती है।

(उ) शास्त्रीय सिद्धांतों के नाम पर इसके पोसे हुए वहम तथाकथित धार्मिक या भूत-प्रेतादि के अंधविश्वासों से कम बलवान नहीं हैं।

२

भारतीय अर्थशास्त्र

१. और बातों को अलग रखें, तो भी हिंदुस्तान अति विशाल देश है; इसकी आब-हवा विविध प्रकार की है; इसकी जमीन तरह-तरह की है और हजारों वर्षों से जोती जाने तथा जनता की गरीबी के कारण भी उसका उपजाऊपन घट गया है, इसकी जनता गिनती में कुल मनुष्य-जाति का पंचमांश है, वह छोटे-छोटे गांवों में बंटी हुई है। उसमें अनेक प्रकार की—धर्म, संस्कृति, स्वभाव और रस्म-रिवाजों की—विविधता है। ये स्थूल कारण ही भारतीय अर्थशास्त्र का विचार पश्चिम की लीक से निकलकर करने की आवश्यकता सिद्ध करने को काफी हैं।

२. भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषताएं ये बताई जा सकती हैं:

(अ) उसका विचार गांवों की दृष्टि से किया गया हो।

(आ) उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट-संबंध हो, दोनों सामान्य रूप से एक ही छप्पर के नीचे रह सकते हों।

(इ) इस अर्थशास्त्र का विचार इस तरह किया गया होगा, जिससे विविध धर्मों, संस्कारों और स्वभावोंवाले लोगों में हित-विरोध, कलह और अनुचित स्पर्धा न पैदा हो।

(ई) अतः उसे नीति धर्म को हर कदम पर निगाह के सामने रखकर सर्वोदय सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए।

३

ग्राम-दृष्टि

१. हिंदुस्तान गांवों में बसा है, यह बात तो बारंबार कही गई है; पर हिंदुस्तान की संपत्ति-संबंधी आज की अधिकांश योजनाएं गांवों के हित की दृष्टि से नहीं बनाई गई हैं, बल्कि शहरों और विदेशों के हित की दृष्टि से रची गई हैं।

२. इसका नतीजा यह हुआ कि गांवों का कच्चा माल शहर में पटता है और शहरों के जरिये विदेश जाता है और शहरों तथा विदेशों में बने पक्के माल से गांवों को पाटने की कोशिश की जाती है। इसकी वजह से बहुत-सा कच्चा माल बेचकर मिले हुए थोड़े पैसे पीछे थोड़ा-सा पक्का माल लेने में खर्च हो जाते हैं और ग्रामवासी का हाथ खाली-का-खाली रह जाता है।

३. इसके सिवाय जीवन के बहुतेरे साधन, जो गांव के खेतों और जंगलों में लगभग मुफ्त मिल सकते हैं और जिन्हें एकत्र करके लोगों तक पहुंचाने से गरीबों का सहज में गुजारा हो सकता है, उनके बदले शहरों और विदेशों में बना हुआ देखने में थोड़ा-बहुत सुविधाजनक, लेकिन अधिकांश में दिखावे के लिए ही आवश्यक और अच्छा लगनेवाला, माल काम में लाने का फैशन बढ़ जाने से देहात के बहुत-से उद्योग और मजदूरी के धंधे नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं।

४. ऐसा अधिक आकर्षक सामान तो आरोग्य और स्वच्छता की दृष्टि से हानिकारक और गंदा भी होता है, खर्चीला तो होता ही है, इससे लोगों को निकम्मी और खर्चीली आदतें लगा लेने-भर का लाभ होता है।

मिसाल के तौर पर—दतौन के बदले तरह-तरह के दंत-मंजन, पेस्ट, टुथब्रश; गुड़ और पीली शक्कर की जगह मिल की सफेद दानेदार चीनी; लकड़ी की सुतली या निवाड़ से बिनी खाट या पलंग के बदले लोहे के पाइप या छड़ के पलंग; खपरैल की जगह टीन; सन, पटुए, मूंज, आदि की बाध-रस्सियों के बजाय तार और तार की डोरियां; देहाती चटाइयों के बदले चीनी और जापानी चटाइयां; गांवों में बांस या घास के बने हुए सूप, दौरे-दौरी, पिटारी आदि के स्थान पर लोहे की चादर के बने सूप, डब्बे आदि; देहाती लुहार या कसेरे की बनाई जंजीर, कड़ियों, हत्थे आदि के बदले मशीन से बने तार या पत्तर की वैसी ही कमजोर परंतु आकर्षक चीजें; देहात के सुनार के बनाये गहनों के एवज में शहरों में मशीन से तैयार किये हुए गहने; देहाती स्त्रियों द्वारा गूंथे पंखे, कढ़े आसन, जाजिम, शाल आदि के बदले जापानी कागज के पंखे, मिल में मशीन से बने कामदार आसन, शाल वगैरह; रीठा, सिकाकाई इत्यादि प्राकृतिक वस्तुओं के बदले सुगंधित साबुन; नरकट के बदले तरह-तरह की फाउंटेन और होल्डर पेन और उनके फलस्वरूप देहाती रोशनाई के बदले रासायनिक रोशनाइयां; देहात के कागज की जगह मशीन के कागज, घरेलू ताजे काढ़े और अर्कों के बदले तैयार दवाइयों की बोतलें, इत्यादि।

५. ये सब चीजें गांव की वस्तुओं से अधिक सस्ती पड़ती हों, सो बात नहीं है। चीजों की मोहकता और धनवान पर अविचारी लोगों के चलाये फैशन के अंधानुकरण में सभ्यता मानने तथा लोगों के भीतर जड़ जमा रखनेवाले आलस्य और जड़ता के कारण, अपनी आर्थिक स्थिति से मेल न खाने पर भी, ये चीजें खरीदी जाती हैं।

६. फिर अविचारी यंत्रवाद ने भी देहात को कंगाल बनाने में काफी बड़ा हिस्सा लिया है, जैसे, कपास लोढ़ने, आटा पीसने, चावल कूटने, तेल पेरने के कारखाने, मोटर, लारियां आदि।

७. इसके सिवा बीच के व्यापारियों की संकुचित और तुरंत अधिक मुनाफा कमा लेने की स्वार्थ-दृष्टि ने बहुत-से देहाती माल को विदेशी और

मशीन के माल की अपेक्षा पड़ते में महंगा न होते हुए भी खरीदार के लिए महंगा बना दिया है। इससे जो बाजार सहज में देहात के हाथ में रह सकता है, वह भी कारखानेवालों और विदेशियों के हाथ में चला गया है।

८. जब अर्थशास्त्र और जीवन में ग्राम-दृष्टि का प्रवेश होगा, तब देहात की बनी चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर जनता का मन झुकेगा, अपने जीवन की आवश्यक वस्तुएं देहात में तैयार कराने की ओर उसका झुकाव होगा; इसके फलस्वरूप देहात की कला और औजारों को सुधारने की, देहात के लोगों को सिखाने-पढ़ाने की, देहाती जंगल और खेतों की पैदावार तथा उपयोग करने के ज्ञान के अभाव में देहातों में बेकार चले जानेवाले संपत्ति के अनेक प्राकृतिक साधनों की जांच-पड़ताल करने की प्रवृत्ति पैदा होगी।

९. आज संपत्ति देहात से शहरों में होकर विदेश चली जाती है। इस प्रवाह को बदल देने की जरूरत है, जिससे देहाती संपत्ति देहात में ही रहे और देहात स्वावलंबी बनें, इतना ही नहीं, बल्कि शहरवालों की आवश्यकता का अधिकांश माल भी वही प्रस्तुत करें।

४

धनेच्छा

१. मनुष्यों का बड़ा भाग आर्थिक स्थिति और सुख-सुविधाओं में सुधार और बढ़ती कराना चाहता है, यह बात सामान्य रूप से भले ही कही जाय, पर मनुष्यों की धन या सुख की इच्छा की कोई सीमा ही नहीं होती और सभी लखपति, जमींदार या राजा बनने अथवा बागों और महल-अटारियों में रहने को लालायित रहते हैं, सामान्य रूप से ऐसा कहना और इसके लिए दलील-सबूत देना साधारण मनुष्यों को न समझने, उनके बारे में हलकी राय रखने और उनके सामने क्षुद्र आदर्श प्रस्तुत करनेवाली बात है।

२. जन-साधारण का बड़ा भाग धन को ठोकर भी नहीं मारता और

उसकी अपार तृष्णा भी नहीं रखता। साल के आखीर में दो पैसे बच रहें, यह वे जरूर चाहते हैं—पर केवल इस विचार से और इतने ही कि बीमारी, मौत, शादी-ब्याह या बुढ़ापे में काम आयें, अथवा पर्व-त्योहार, यात्रा, दान-धर्म का काम चल जाय। धार्मिक संस्कारोंवाली जनता में धन तथा सुख की तृष्णा को अमर्यादित न होने देने का संस्कार थोड़ा-बहुत काम करता ही रहता है।

३. जैसे सब राजा न सिकंदर या नेपोलियन बनने की और न भर्तृ-हरि या गोपीचंद होने की हवस या उसके लिए पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य रखते हैं, वैसे ही करोड़ों मनुष्य न श्रीमान बनने की और न निष्किंचन बनने की हवस या हिम्मत रखते हैं।

४. पर प्रत्येक जन-समाज में कुछ लोगों की महत्वाकांक्षा और वैसे ही पुरुषार्थ करने की शक्ति असाधारण होती है। ऐसे कुछ मनुष्य तो अकिंचन बनने का आदर्श रखते हैं, और कुछ लाखों रुपये पैदा कर दिखाने का।

५. समाज की व्यवस्था और रचना ऐसी होनी चाहिए कि लोगों की आवश्यक सुख-सुविधा और धनेच्छा को धक्का पहुंचाये बिना ऐसे मनुष्यों को पुरुषार्थ करने का उचित अवसर मिले, यही नहीं, इसके फलस्वरूप उनकी महत्वाकांक्षा का पोषण हो, तो भी उससे अंत में समाज का लाभ ही हो।

६. यदि समाज-व्यवस्था में ऐसे पुरुषार्थ के लिए उचित अवसर न हो, तो उनकी महत्वाकांक्षा उनके पुरुषार्थ को गलत रास्ते ले जायगी और समाज को हानि करेगी।

७. उद्योग-धंधे तथा समाज-सेवा के कितने ही कामों में अनेक प्रकार के साहस और जोखिम उठाने पड़ते हैं। उनकी सिद्धि संदिग्ध होती है और तत्संबंधी प्रयोगों के लिए सार्वजनिक सभा-सोसाइटियों की अपेक्षा निजी रूप में मनुष्य या निजी संस्थाएं अक्सर अधिक अनुकूल पड़ती हैं। समाज-रचना ऐसी होनी चाहिए कि इसके लिए अनुकूल हो।

५

व्यापार

१. व्यापार का उचित क्षेत्र आवश्यक बड़े उद्योगों का विकास करना और जरूरी चीजें लोगों के पास पहुंचाना है। इसमें अनायास जो बचत हो जाय, उसीको मुनाफा कह सकते हैं।

२. अनायास होनेवाली बचत से मतलब है उद्योग या व्यापार में जो कुछ खर्च पड़े, उसे वस्तु पर फैलाते समय नुकसान की जोखिम टालने के लिए जो थोड़ी गुंजाइश (मार्जिन) रखी जाती है, उससे होनेवाली बचत[१]। यह बचत फुटकर रोजगार में तो बहुत मामूली होती है, पर बड़े पैमाने पर किये जानेवाले उद्योग-व्यापार में कुल मिलाकर बड़ी हो सकती है।

३. इस प्रकार बढ़नेवाले धन का उपयोग उस उद्योग में लगे हुए मजदूरों की भलाई में, या उस उद्योग अथवा दूसरे उपयोगी उद्योगों की उन्नति में, या सार्वजनिक हित के बड़े कार्य आरंभ करने में किया जाना चाहिए।

४. यदि ऐसे धन का मालिक अपने को उसका रक्षक माने और उसका उपयोग इस रूप में करना धर्म समझे, तो पूंजीपति माने जाते हुए भी उससे जनता का हित होगा और वह ईर्ष्या का पात्र न बनेगा।

५. पर वह यदि इससे केवल स्वार्थ ही साधे और पैसा या वैयक्तिक सुख-भोग बढ़ाने की दृष्टि रखे, तो वह अपने को तिरस्कार का पात्र बना लेगा और इसके फलस्वरूप मालिक-नौकर के बीच भेद-भाव बढ़ानेवाला और कलह उत्पन्न करनेवाला हो जायगा।

६. यदि धनवान ऐसा व्यवहार रखे कि उसके बाग-बगीचे, बंगले,

[१] उदाहरण—फर्ज कीजिये कि सारा खर्च जोड़ने पर एक गज खादी की कीमत ०-५-१ होती है। तब नुक्सान से बचने के लिए वह ०-५-३ रख ली जाय, तो २ पाई मुनाफा रहेगा।

गहने, गाड़ी-घोड़े, ठाठ-बाट, बरतन, दरी-गलीचे आदि उसके अधीन काम करनेवालों को उनके ब्याह-बरात के अवसरों पर इस्तेमाल करने को मिल सकें, यदि वह इस बात को अपना कुल-धर्म समझे कि उनके यहां पड़नेवाले ऐसे कामों को इस तरह पार लगा दे कि उनका मन प्रफुल्लित हो जाय और इसके साथ ही यदि गरीबों का जीवन कष्टहीन हो, तो धनी के अधिक सुख भोगने से गरीबों को उससे डाह न होगी; उलटे अधिकांश लोग तो उपभोग के साधनों की संभाल के झंझटों से बचे रहना पसंद करेंगे।

७. जहां धनी का ऐसा व्यवहार हो, वहां मोटे हिसाब यह कह सकते हैं कि वह अपने धन का उपयोग रखवाले के रूप में करता है। इसमें धन-लोभ का सर्वथा अभाव नहीं है, पर यह जन-समाज का द्रोह किये बिना और आवश्यकता के समय काम आनेवाला धन-संग्रह है।

८. ऐसी सविवेक पूंजीवादी व्यवस्था का नाश करने के लिए साम्यवाद की किसी दलील के प्रभाव में ही आकर जनता तैयार न होगी।

९. इसके अतिरिक्त यदि धनी स्वयं सादा और संयम का जीवन बितानेवाला हो, तो वह पैसेवाला माना जाते हुए भी जनता के लिए पूज्य हो जायगा।

६

साहूकारी

१. थोड़े ब्याज पर रुपया लेकर अधिक ब्याज उपजाने में लगाना ब्याज-बट्टा अथवा साहूकारी कहाता है। पर समाज-हित के लिए जो साहूकारी अनिवार्य है, वह इस तरह की नहीं है।

२. आज जिस प्रकार का ब्याज-बट्टा दुनिया में चल रहा है, वह या तो विदेशी व्यापारियों की दलाली या आढ़त का पेशा है, अथवा किसानों तथा दूसरे धंधे करनेवालों की जमीन-जायदाद और माल-मिल्कियत, या इससे भी आगे बढ़े तो पर-राज्यों को धीरे-धीरे पचा जाने के खोटे उपाय हैं। यूरोप-अमेरिका-सरीखे देशों में भी अधिक ब्याज के लोभ ने

अपने देश के गरीबों के हित की उपेक्षा करके विदेशों में रुपया लगाने की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इससे धनी देशों में भी कष्ट बना रहता है।

३. रोजगार में झूठ बोलने में दोष नहीं है, यह मानना भयंकर अधर्म की बात है।

४. अपढ़, भोले और विश्वासपरायण लोगों अथवा विलासलिप्त अमीरों या राजा-रईसों के बुरे खर्चों और व्यसनों में पड़ने को प्रोत्साहित कर उन्हें कर्ज में फंसाना, देन-लेन के व्यवहार में उन्हें ठगना, झूठे बही-खाते और दस्तावेज बनाना साहूकारी नहीं, बल्कि ज्वलंत पाप और हिंसा है।

५. ऐसे अधर्म भरे ब्याज-बट्टे के रोजगार से अर्थ नहीं बल्कि अनर्थ की वृद्धि हुई है।

६. मनुष्य को अपनी बचत की पूंजी किसी उद्योग-धंधे की सहायता में लगानी चाहिए। यह पहले स्वदेश में ही लगनी चाहिए। उद्योगों में लगाने के बाद भी बचे, तो सबसे पहले स्वदेश के सार्वजनिक हित के कामों को बढ़ाने में उसका उपयोग होना चाहिए। पूंजी को कायम रखकर उसके ब्याज से ही जनहित के कार्य होने चाहिएं, यह विचार सदा सही नहीं होता। इस विचार के कारण पूंजी का अधिक-से-अधिक उपयोग करने के बजाय अधिक-से-अधिक ब्याज कमाने की वृत्ति पैदा हुई है।

७. कौटुंबिक कार्य ब्याज पर रुपया लेकर करने की मनाही होनी चाहिए। सामाजिक रस्म-रिवाजों में इस तरह का सुधार होना चाहिए कि वे कम-से-कम खर्च में हो सकें। फिर भी बीमारी अथवा ऐसी दूसरी आपत्तियों या वैवाहिक अवसरों पर रुपये की तंगी पड़ जाय, तो वैसी सहायता समाज से मित्रता के नाते बिना ब्याज के मिलनी चाहिए। घरेलू उपयोग के लिए दूकानदार उधार माल दे, तो उसपर और ऊपर बताये हुए कौटुंबिक कार्यों में कर्ज के रूप में ली हुई सहायता पर भी ब्याज लेना गैरकानूनी समझा जाना चाहिए।

८. आजकल तो ऐसे कर्जों पर अधिक ब्याज मिल सकता है और इससे धनिकों को उनसे लेन-देन रखनेवालों को व्यसनों और फिजूलखर्ची में फंसाने

का प्रलोभन होता है।

९. दूसरी ओर मीयाद तथा नादारी-नादिहंदी के कानूनों ने जनता की नैतिक भावना का नाश करने में जबरदस्त हिस्सा लिया है। इनकी बदौलत दिवाला निकाल देने, सट्टेबाजी और लौटाने की नीयत न रखते हुए कर्ज लेने की प्रवृत्ति आदि को उत्तेजन मिला है।

१०. इस तरह के कर्जदार और साहूकार का संबंध चूहे-बिल्ली-जैसा, अथवा एक-दूसरे को ठगने की कोशिश करनेवाले शत्रुओं का-सा हो गया है। पुश्त-दर-पुश्त चले, एक-दूसरे का हित करे, जिसमें साहूकार ऋण लेनेवाले के उद्योग-धंधे बढ़ाने में सहायता पहुंचाने की नीयत रखे और कर्जदार अपने पुरखों का वाजिब कर्ज अदा करने में अपना कुल-गौरव समझे—इस प्रकार का संबंध नहीं रह गया है।

११. जो हालत कर्ज़दार और साहूकार की हुई है, वही नौकर और मालिक की हो गई है।

७

पूरी मजदूरी

१. मनुष्य चाहे जिस प्रकार का श्रम करे, यदि वह उसे दिये गये साधनों और तालीम का सचमुच उपयोग ईमानदारी से दिन के पूरे समय करता है, तो उसे इस श्रम के बदले के रूप में इतनी मजदूरी मिलनी या पड़ जानी चाहिए, जिससे उसका और उसके अशक्त आश्रितों का गुजारा संतोषजनक रीति से हो जाय।

२. देहात के आज के साधनों, रहन-सहन आदि को ध्यान में रखने और ग्राम-जीवन के दर्जे को जितना ऊपर ले जाना नितांत आवश्यक है, उसका विचार तथा चीजों के आज के भाव का खयाल रखते हुए आठ घंटे तक दिन की मजदूरी का समय और आध घंटा पीछे एक आना मजदूरी की आवश्यक दर मानी जानी चाहिए।

३. इस स्थिति तक एकबारगी पहुंचने के लिए कदम उठाने की भले

ही हमारी हिम्मत न हो, पर इस दिशा को ध्यान में रखकर हमें सतत प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

४. आदर्श स्थिति और वर्ण-धर्म की संपूर्णता तो तब समझी जायगी, जब सब धंधे करनेवालों की आमदनी एक-सी हो। पर इसकी संभावना आज निकट भविष्य में नहीं दिखाई देती। इसलिए इस आदर्श को ध्यान में रखकर जहांतक जाया जा सके, वहांतक उत्तरोत्तर बढ़ने की नीति स्वीकार की गई है।

८

मजदूर के प्रश्न

१. जीवन-विषयक गलत दृष्टिकोणों ने मजदूरों के प्रश्न को उलझा दिया है।

२. वे गलत दृष्टिकोण ये हैं :

(अ) मनुष्य अवकाश-ही-अवकाश चाहता है और काम को वेगार समझता है।

(आ) मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए अवकाश की ही आवश्यकता है, शारीरिक श्रम उसका विरोधी है।

(इ) कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना श्रम-विभाग का ध्येय है।

(ई) मालिक और मजदूर के स्वार्थ एक-दूसरे के विरोधी हैं।

३. उपर्युक्त कारणों से मजदूरों में नीचे लिखे गलत आदर्श फैलाने का प्रयत्न किया जाता है :

(अ) खूब यांत्रिक सुधार करके, दो या चार घंटे के श्रम से ही जीवन की आवश्यकताएं पूरी कर लेनी चाहिएं।

(आ) पूंजीपति का नाश करना है।

४. ये आदर्श शायद कभी सिद्ध हो जायं, पर इनसे मानव-जाति को सुख ही मिलेगा, इसका निश्चय नहीं है।

५. वास्तव में मजदूरों के, या यों कहिये कि अधिकांश जनता के सुख के लिए नीचे बताई दृष्टि से विचार करना चाहिए :

(अ) मनुष्य को बाह्य साधनों का इतना अधिक मुहताज नहीं बना देना चाहिए कि उसकी श्रम करने की स्वाभाविक शक्ति का ह्रास हो जाय और वह श्रम से निर्वाह करने के अयोग्य बन जाय।

(आ) अतः मनुष्य की शारीरिक श्रम करने की शक्ति बढ़नी चाहिए और काम के घंटे, मजदूर के खान-पान तथा घर-बार आदि की सुविधाओं का विचार उसकी शक्ति की रक्षा करने और बढ़ाने की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

(इ) अत्यंत सूक्ष्म श्रम-विभाग करके मजदूर को जड़-यंत्र जैसा बना देकर दो-चार घंटे की नीरस यांत्रिक क्रिया में उसे जोतना और फिर मौज-चंन या शौक की बातों के लिए छोड़ देना, इससे मनुष्य जाति का कल्याण न होगा। बल्कि उद्योग-धंधों की व्यवस्था के ऐसे रास्ते ढूंढने चाहिएं, जिनसे उसे अपने करने के काम में ही आनंद आये, वही उसके शौक की चीज बन जाय और उसीमें वह अपना आध्यात्मिक विकास भी कर सके।

(ई) इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य को अपने धंधे-व्यवसाय के सिवा और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, और न फुर्सत की ही जरूरत है। हर आदमी को कोई निर्दोष शौक भी होना चाहिए और उसके लिए उसे फुर्सत भी मिलनी चाहिए; पर उसका स्थान गौण ही रहना चाहिए। अभी-तक ऐसी संस्कारिता का प्रसार नहीं हो पाया है, जिससे मानव-समाज का बड़ा भाग अवकाश का समय उचित रीति से बिता सके। आज तो उसे बड़े भाग की फाजिल फुर्सत का समय नींद, व्यसन और दोषमय भागों में ही बीतने का डर है।

(उ) मनुष्य को जो अपने गुजर के लिए कठिन श्रम करना पड़ता है, यह प्रकृति का कोप नहीं बल्कि अनुग्रह है। ऐसा श्रम करने का सामर्थ्य बढ़े—यह ध्येय होना चाहिए, श्रम न करना पड़े, यह नहीं।

(ऊ) यदि मालिक मजदूरों का व्यवस्थापक बनकर उनसे उनकी

शक्ति-भर ही काम ले और पूरी मजदूरी तथा सुख-सुविधा का प्रबंध कर दे और मजदूर मालिक के काम को अपना समझकर उसमें मन लगाकर मेहनत करे, तो इसमें दोनों का हित सधेगा।

(ए) इसके लिए निजी पूंजी का होना-न-होना अधिक महत्व का प्रश्न नहीं है, बल्कि उद्योग और वाणिज्य का लक्ष्य बदल देने की जरूरत है।

(ऐ) उद्योग का लक्ष्य व्यापार बढ़ाने के लिए नई-नई जरूरतें खड़ी करना नहीं है, बल्कि जो आदतें और जो जरूरतें पैदा हो चुकी हैं, उनकी अच्छे-से-अच्छे ढंग से पूर्ति कर देना भर है। व्यापार का भी इतना ही प्रयोजन है। ऐसा करते हुए कितनी ही नई आवश्यकताएं पैदा होने की संभावना अवश्य है, लेकिन यह ध्येय ध्यान में रखा जाय, तो वाणिज्य पिछड़ी जातियों की आवश्यकताएं बढ़ाने के लालच में न पड़ेगा और उन्हें चूसने की नीति न अपनायेगा। ऐसा होने से मजदूर और मालिक अन्योन्याश्रित बनकर रहेंगे।

(ओ) ऐसा ध्येय न रहने पर पूंजीपति के रूप में व्यक्ति के बदले जड़तंत्र मालिक बनेगा अथवा एक राष्ट्र मालिक और दूसरा राष्ट्र मजदूर बनेगा। इससे मनुष्य का सुख बढ़ेगा नहीं।

९

स्वावलंबन और श्रम-विभाग

१. स्वावलंबन का अर्थ श्रम-विभाग का विरोध नहीं है और न दूसरे देशों के साथ औद्योगिक संबंध का अभाव है। समाज में रहनेवाले लोग संपूर्ण रूप से स्वावलंबी हो सकें, अर्थात् अपनी प्रत्येक आवश्यकता अपने ही श्रम से पूरी कर लें, यह शक्य नहीं। ऐसा प्रयत्न मिथ्या अहंकार और मिथ्या प्रयास का रूप ले सकता है। सारे जगत के साथ प्रेम और अहिंसा द्वारा एकरूप होने का आदर्श रखनेवाला स्वयं-पर्याप्त (self-sufficient) होने का झूठा मोह नहीं रखेगा।

२. तथापि मनुष्य अपनी जितनी जरूरतें और जितने काम खुद

आसानी से पूरी कर ले या निपटा सकता है और जिनके लिए प्राकृतिक अनुकूलताएं भी हों, उनमें स्वावलंबी रहना दोष नहीं वल्कि उचित है। उसे इनके लिए दूसरे से काम लेना ही चाहिए और उसके लिए रुपये-पैसे के लेन-देन का संबंध कायम करना ही चाहिए—यह धर्म नहीं है। मिसाल के तौर पर मनुष्य को अपने कपड़े धोबी से ही धुलाने चाहिएं, पाखाना भंगी से ही साफ कराना चाहिए, हजामत के लिए नाई को ही बुलवाना चाहिए, या खाना बासे में जाकर ही खाना चाहिए—यह फर्ज नहीं कहा जा सकता।

३. यही नियम देश और जनता के व्यवहार में भी घटित होता है। हिंदुस्तान-जैसा देश, जिसमें काफी अनाज और रूई पैदा होती है, अन्न और वस्त्र के मामले में स्वावलंबी बन जाय, तो यह नहीं कह सकते कि वह स्वयं-पर्याप्त बनने का मिथ्या प्रयत्न करता है या दूसरे देशों के साथ औद्योगिक संबंध नहीं रखना चाहता।

४. इसी तरह जिन उद्योगों के विकास के लिए भारतवर्ष में प्राकृतिक अनुकूलताएं हैं, उन उद्योगों के विकास के उपाय वह करे, तो इसमें कोई दोष नहीं। ऐसी आर्थिक नीति अपनाये बिना राष्ट्र को सुखी बनाने की आशा रखना बेकार है

५. भारत का अनाज विदेश भेजकर वहां से रोटी मंगाकर खाना, यहां से तिलहन या मूंगफली भेजकर वहां से तेल पेरवाकर मंगाना, रूई भेजकर कपड़ा मंगवाना और इस पद्धति को देशांतर (अंतर्राष्ट्रीय) श्रम-विभाग और देशांतर सहयोग का नाम देना, अथवा लंकाशायर-जैसे परगने में लोहे और कोयले की खानें हैं और वहां की हवा नम है, इसीलिए यह कहना कि कपड़ा बनाने की वहीं अनुकूलता है, श्रम-विभाग और सहयोग-तत्व का दुरुपयोग है।

१०

राजनीतिक स्वदेशी

१. हरएक देश की आर्थिक नीति यही होनी चाहिए कि जहां कच्चा

माल हो, वहीं उससे संबंधित उद्योग चलाने के कारखाने हों। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से इसीको 'स्वदेशी आंदोलन' कहते हैं।

२. कच्चे माल का विदेश जाना और वहां से चीजों की शक्ल में फिर स्वदेश लौटना आर्थिक दृष्टि से लाभजनक प्रतीत होता हो, तो बहुत संभव है कि उसके मूल में या विदेश में कोई अन्याय या अधर्म हो अथवा हिसाब लगाने में कहीं-न-कहीं भूल हो रही हो।

३. इंग्लैंड ने जिसे 'फ्री ट्रेड' अथवा मुक्त द्वार व्यापार का नाम दे रखा है, वह वास्तव में वैसा व्यापार नहीं है, क्योंकि वह अपने उद्योगों की रक्षा तथा दूसरे देशों के उद्योगों को मटियामेट करने के लिए जकात का नहीं, बल्कि सैनिक-बल, राजनीतिक शक्ति और कुटिल नीति का उपयोग करता है। स्वदेशी की नीति का यह अधम और अन्यायी रूप है।

४. आर्थिक दृष्टि से स्वदेशी और बहिष्कार में भेद नहीं है। जिस चीज पर करोड़ों का जीवन अवलंबित हो, वैसी वस्तु विदेशों से कदापि नहीं लाने दी जा सकती, अर्थात् उसका बहिष्कार करना ही पड़ेगा। यह बहिष्कार किसी खास देश के नहीं, बल्कि सब विदेशों के विरुद्ध होगा, इसलिए यह 'स्वदेशी' ही है।

५. देश-विशेष के खिलाफ चलाया गया बहिष्कार राजनीतिक दृष्टि से किया जाता है, इसलिए उसका विचार इस प्रकरण में करने की आवश्यकता नहीं।

११

यांत्रिक साधन

१. भारतीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से यांत्रिक साधनों तथा उनमें किये जानेवाले सुधारों के दो भाग किये जा सकते हैं—(१) वे यंत्र और उनके सुधार, जो मुख्यतः इस दृष्टि से बनाये या किये गये हों कि श्रम करनेवाले मनुष्य या पशु के स्नायुओं को थोड़ा कम श्रम पड़े और उनका थोड़ा-सा समय बच जाय, जैसे ढेंकुल, चक्की, चरखा, साइकल, सीने की कल,

शटल, करघा, गाड़ी इत्यादि, तथा उनमें घिसाई आदि के दोष (Frictions) कम करने के लिए किये गये सुधार; जैसे छर्रेवाले चक्कर (बाल बियरिंग), पक्की सड़कें, रेल की पटरी इत्यादि। (२) ऐसे यंत्र, जो श्रम करनेवाले मनुष्य या पशु का स्थान ग्रहण करने के लिए, अर्थात् मजदूर या पशु की संख्या घटाने के लिए, अथवा मजदूरों की बुद्धि-चातुरी या शरीर-बल का उपयोग करने के बदले उनका केवल जीवित यंत्र के तौर पर इस्तेमाल करने के लिए बनाये जायं, जैसे आटा पीसने की मिल, चावल कूटने की कल, तेल पेरने की कलें, शक्कर के कारखाने, सूत और कपड़े की मिलें, मोटर, रेलगाड़ी इत्यादि माल ढोने के साधन, मशीन का हल (ट्रैक्टर), भाप या बिजली से चलनेवाले पानी के पंप, सूक्ष्म श्रम-विभाग के फलस्वरूप बने यंत्र इत्यादि।

२. पहले प्रकार के यांत्रिक साधन और उनमें होनेवाले सुधार सामान्यतः इष्ट हैं। उनसे भी मजदूर या पशु की संख्या घट सकती है, पर कम-से-कम घटेगी।

३. दूसरे प्रकार के यांत्रिक साधनों और सुधारों का उपयोग करने में विवेक और सावधानी रखनी होगी, अर्थात् ऐसे साधनों और सुधारों का कौन कितना उपयोग करे, इस पर जनता की सरकार का वैसा ही नियंत्रण रहना चाहिए जैसा शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद बनाने और इस्तेमाल करने पर रहता है।

४. दूसरे प्रकार के यंत्रों का व्यवहार किस परिस्थिति में दोषरूप नहीं समझा जा सकता, इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

(अ) जहां काम बहुत और करनेवाले थोड़े हों और अधिक आदमी मिलना या रखना कठिन हो, जैसे जहाज पर।

(आ) जहां आकस्मिक अड़चन की वजह से अथवा दूसरे कारणों से काम का प्रकार ही ऐसा हो कि उसे जल्दी-से-जल्दी निपटाने की जरूरत हो और यांत्रिक साधनों के बदले अधिक आदमी बटोरने से अव्यवस्था, देर लगने और खतरा बढ़ने की संभावना हो, जैसे आग बुझाना, अकाल या अन्य

प्राकृतिक विपत्तियों से लोगों की रक्षा करना अथवा अनाज आदि की सहायता पहुंचाना।

(इ) जो यंत्र और उनके सुधार सहायक धंधा दे सकते हों अथवा वैसे धंधे को अधिक अच्छी स्थिति में ला सकते हों, फिर भी उसके सहायकपन का नाश करनेवाले न हों, जैसे ज्यादा काम देनेवाला चरखा, रस्सी बंटने का चक्र, आदि।

(ई) पहले प्रकार के कल-पुर्जे बनाने के यंत्र, औजार आदि बनाना, खास करके वहां, जहां एक ही माप और एक ही ढंग से यंत्र अथवा उनके पुर्जे बनाने का महत्व हो।

(उ) जहां बिल्कुल सही काम देनेवाले सूक्ष्म साधनों की आवश्यकता हो, जैसेकि घड़ी, टाइपराइटर, प्रयोगशाला के उपकरण आदि के बनाने में।

(ऊ) ऐसी वस्तुओं के बनाने में, जिनमें जनता का बड़ा भाग कभी लगाया नहीं जा सकता, पर जिनका उपयोग सार्वजनिक हो, जैसे नल के पाइप, टोंटियां और कांच के घरेलू बरतन इत्यादि।

(ए) व्यक्तिगत साहस से नहीं, बल्कि राज्य की ओर से अथवा उसके नियंत्रण में चलनेवाले उद्योगों में; जैसे रेलगाड़ी, जहाज, महत्व की खानें, मिट्टी के तेल के कुएं आदि।

५. जिस हद तक दूसरे प्रकार के यांत्रिक साधनोंवाले उद्योग आवश्यक समझे गये हों, उस हद तक उनसे संबंध रखनेवाले कारखाने भी आवश्यक समझे जायंगे; जैसे लोहा, औजार, मशीनें, कांच, बिजली इत्यादि के उद्योग और इनके लिए आवश्यक साधन बनाने के कारखानें।

१२

अंतर्राष्ट्रीय-व्यापार

१. जो चीजें अपने देश में न बनती हों, बनाने के लिए प्राकृतिक अनुकूलताएं भी न हों अथवा ऐसी हों कि बड़े कष्ट से या दूसरे राष्ट्र की जनता

की भारी हिंसा करके ही उत्पन्न की जा सकती हों, जिन्हें बनाने की कला वहां की जनता ने अतिशय परिश्रम से हस्तगत की हो और उसकी कमाई पर उनका जीवन बहुत अधिक अवलंबित रहा हो, जिसका जीवन में इतने महत्व का उपयोग न हो कि उसके बिना करोड़ों की जीवन-यात्रा कठिन हो जाय, अथवा महत्व का उपयोग हो, तो भी नित्य के जीवन में उपयोग न हो और सामान्य मनुष्यों का जीवन तो उनके बिना ही चलता हो, ऐसी चीजों का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार हो सकता है।

२. ऐसे व्यापार के चलाने में किसी भी तरह की जोर-जबरदस्ती, हिंसा, राजनीतिक अधिकार के दबाव वगैरह का उपयोग न होना चाहिए।

३. ऊपर बताई वस्तुओं को जैसे भी हो सके, स्वदेश में उत्पन्न करने का आग्रह अधर्म भी हो सकता है।

४. प्रयोगशालाओं में काम आनेवाले कितने ही साधन, एक्सरे का यंत्र, विशेष प्रकार की घड़ियां, केसर, काश्मीरी ऊनी कपड़े, इलायची, दालचीनी इत्यादि विशेष प्रकार की वनस्पतियां वगैरह चीजें इस प्रकार की मानी जा सकती हैं।

खंड ७ : : उद्योग

१

खेती

१. खेती हिंदुस्तान का प्राणरूप धंधा है। भयंकर लूट जारी रहते हुए भी हिंदुस्तान जो अबतक जीवित रहा है, उसका कारण यह है कि भोजन के मामले में अभी वह परावलंबी नहीं बना है। पर यह स्वावलंबन भी अब खतरे में नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

२. हिंदुस्तान की आर्थिक और राजकीय नीति खेती के उद्योग को नष्ट कर रही है। उसके परिणामस्वरूप खेती आज कमाई का धंधा नहीं रह गई है।

३. ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में मालगुजारी की वसूली कानूनन जमीन पर पहला बोझ है। स्वराज्य में इसका उलटा होना चाहिए यानी खेती की तरक्की राज्य पर पहला बोझ होना चाहिए और मालगुजारी वगैरह सारे कर इस तरह लगाये जाने और वसूल होने चाहिएं कि खेती को हानि न पहुंचे।

४. देश के लिए आवश्यक धान्य का संग्रह सदा रहे, स्वराज्य की आर्थिक नीति इस तरह बनाई जानी चाहिए।

५. हिंदुस्तान में फलवाले वृक्ष के उत्पादन पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए, उतना नहीं दिया गया है। इस ओर खासतौर से ध्यान देना चाहिए।

६. खेती की तरक्की के लिए गोचर-भूमि की सुविधा भी आवश्यक है। खेती तथा जंगल-विभाग की नीति ऐसी होनी चाहिए, जिससे लोगों को गाय-भैंस रखने का प्रोत्साहन मिले और उनकी खुराक के लिए खास किस्म के चारे की खेती भी होनी चाहिए।

७. खेती की भांति ही सब उद्योगों के विषय में उद्यम की वर्तमान दृष्टि ही भूल से भरी हुई है। मालगुजारी, कर, कर्ज आदि चुकाने की चिंता मनुष्य को न हो, तो श्रम से वह जो चीजें निर्माण करता है, उनमें यह दृष्टि न रखेगा कि क्या बेचकर वह अधिक-से-अधिक दाम पा सकेगा, बल्कि इस दृष्टि से उद्यम करेगा कि उसे और उसके कुटुंब को अथवा उसके ग्राम या समाज को किस चीज की कितनी जरूरत होगी।

८. इस तरह उसकी पहली चिंता यह होगी कि उसके पास अनाज और चारा यथेष्ठ मात्रा में रहे; केवल ऊंचे भावों पर नजर रखकर रूई, तिलहन, तंबाकू आदि के ढेर पैदा करने का प्रयास वह न करेगा।

९. ऊंचे दाम पाने के लोभ से होनेवाली 'व्यापारिक खेती' से अंत में किसान को अधिक लाभ तो होता ही नहीं, एक ओर से आया हुआ पैसा दूसरी ओर से चला जाता है; पर इससे नैतिक हानि बहुत बड़ी होती है। यह विचार करने की कर्तव्यबुद्धि ही नष्ट हो जाती है कि हम जो चीज उपजाते हैं, उससे हमारे अपने तथा दूसरे देशों की जनता को भी शारीरिक, मानसिक और नैतिक हानि कितनी होती है। तंबाकू अफीम आदि की खेती इसकी मिसालें हैं।

२

सहायक उद्योग

१. हिंदुस्तान में खेती के लिए बहुतेरे कुदरती खतरे हैं। उनसे बचते रहने के उपाय करते रहने पर भी बहुत अंशों में यह स्थिति रहेगी ही। दूसरे यह बारहमासी धंधा नहीं हो सकती। खेती के मौसम में भी इसमें एक-सी मेहनत नहीं करनी पड़ती। खास-खास मौकों पर इसमें बहुत-से आदमियों की जरूरत पड़ती है और बाकी के दिनों में मालिक और उसके घर के लोग भी बेकार रहते हैं। अतः हिंदुस्तान में खेती और उद्योग एक-दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं किये जा सकते, बल्कि खेती के साथ कोई भी दूसरा सहायक धंधा अवश्य होना चाहिए।

२. सहायक धंधे में नीचे लिखी अनुकूलताएं होनी चाहिएं :

(अ) वह मुख्य धंधे मसलन खेती—के अनुकूल पड़नेवाला होना चाहिए—उसके लिए खेती बिगाड़नी पड़े, ऐसा नहीं होना चाहिए।

(आ) अतः यह धंधा ऐसा होना चाहिए कि मुख्य धंधे के लिए मेहनत की जरूरत पड़ते बिना किसी नुकसान के समेट लिया जा सके अथवा उधर ध्यान दिये बिना उसका काम चलता रहे।

(इ) इसके सिवा इस धंधे का रूप नौकरी का नहीं, बल्कि स्वतंत्र श्रम का होना चाहिए।

(ई) इन्हीं कारणों से उस धंधे में यंत्र अथवा माल के लिए इतनी पूंजी की आवश्यकता न होनी चाहिए कि वह निर्धन जनता के सामर्थ्य के बाहर हो :

(उ) वह ऐसा हो कि खेत के नजदीक ही अर्थात् अपने घर या गांव में किया जा सके।

(ऊ) करोड़ों जनों को उसे अपनाने की सलाह देनी हो, तो यह धंधा ऐसा होना चाहिए कि उसका माल आसानी से खप जा सके, अर्थात् वह सार्वजनिक उपयोग की वस्तु हो।

(ए) उसी तरह करोड़ों की दृष्टि से इस धंधे की व्यवस्था करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका प्रबंध झटपट, आसानी से और थोड़े खर्च में किया जा सकता है।

(ऐ) फिर, करोड़ों की दृष्टि से वह ऐसा भी होना चाहिए कि अपढ़, थोड़ी बुद्धि के, कमजोर, छोटे-बड़े सब तरह के मनुष्यों से हो सके।

(ओ) तथापि वह ऐसा न होना चाहिए कि कारखाने की तरह वह धंधा मनुष्य को—काम के बीच में—जड़ यंत्र की भांति आनंदरहित और रसहीन बना दे और—काम के बाद—ऊब और थकान पैदा करदे।

३. इन सहायक उद्योगों में चरखा और गोपालन प्रधान हैं। ये दोनों धंधे प्राचीन काल से खेती के साथ ही जुड़े हुए हैं और दीर्घकालीन अनुभव की कसौटी पर कसे जा चुके हैं।

४. जैसे तार, डाक, रेल अखिल भारतीय विभाग समझे जाते हैं, वैसे ही चरखे और गोपालन का महत्व अखिल भारतीय है। बड़े पैमाने पर तथा अधिक-से-अधिक लोगों को आसानी और सुभीते से काम में लगा सकनेवाले यही धंधे हैं।

५. इन दोनों धंधों का विशेष विचार पृथक प्रकरणों में होगा, पर गोपालन की तुलना में चरखे का महत्व इस दृष्टि से अधिक है कि गोपालन का धंधा थोड़ा-बहुत जमीन और पूंजी की अपेक्षा रखता है, इसलिए वह अपनी निज की जमीन रखनेवाले किसान का ही सहायक धंधा बन सकता है; पर उन लाखों लोगों को उतना अनुकूल नहीं है, जो केवल खेती की मजदूरी पर ही गुजर करते हैं। दूसरे, गोपालन खेती से अलग स्वतंत्र धंधा भी हो सकता है और चरखा इन दोनों के साथ चल सकता है। इसी तरह गोपालन और चरखा दोनों एक साथ भी किसान के सहायक धंधे हो सकते हैं।

६. चरखे पर जोर देने में यह आशय नहीं है कि उसके सिवा दूसरा कोई सहायक धंधा न होना चाहिए। स्थानिक परिस्थिति अनुकूल हो और चरखे से अधिक लाभजनक दूसरा सहायक धंधा वहां चल सकता हो, तो चरखे के बदले या उसके अतिरिक्त उसके लिए भी जगह है। स्थानीय अधिकारियों और लोकल जिला बोर्ड आदि का फर्ज है कि उसपर ध्यान देकर उसे बढ़ायें-फैलायें।

७. इस विषय में मोटे हिसाब से यह कहा जा सकता है कि जिस गांव में जो कच्चा माल पैदा होता है, उसे जमा करने, बेचने और काम में लाने योग्य बनाने के लिए जिन क्रियाओं की जरूरत हो, वे क्रियाएं भी वहीं, अर्थात् कच्चा माल पैदा करनेवाले के यहां ही होनी चाहिए। जैसे विदेश अथवा शहर में धान नहीं जाता, पर चावल जाता है और वही खाया जा सकता है। गेहूं के स्थान पर आटा भी बड़ी मात्रा में जाता है और उसकी बनी रोटी, बिस्कुट आदि की खपत भी अच्छी है। गन्ने का गुड़ या शक्कर बनाकर ही काम में लाई जा सकती है। निलहल का तेल ही इस्तेमाल हो

सकता है, कपास का उपयोग कपड़े के रूप में ही होता है। चमड़ा कमाकर उससे बननेवाली तरह-तरह की चीजें ही काम में आती हैं। इसलिए धान कूटने, आटा पीसने, रोटी, बिस्कुट, गुड़-शक्कर बनाने, तेल पेरने, कपड़ा बुनने और चमार, मोची वगैरह के धंधे देहात में ही चलने चाहिएं और ये भी धंधे किसान या ग्रामवासी के सहायक उद्योग हो सकते हैं; ऐसे दूसरे अनेक धंधे भी गिनाये जा सकते हैं।

८. ऐसे धंधे सहायक उद्योग के तौर पर चलें, तो किसान को बहुत तरह के लाभ हो सकते हैं, जैसे धान की भूसी, गेहूं का चोकर, ईख के छिलके और पत्ते, तिलहन की खली, बिनौले, सूत का फुचड़ा वगैरह पशुओं के काम आ सकते हैं। उनकी खाद बन सकती है या उनसे दूसरे धंधे भी किये जा सकते हैं।

३

'सौ फीसदी स्वदेशी'

१. स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देने की जरूरत है। स्वदेशी धर्म के पालन में ही यह बात आ जाती है। पर स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से जो आंदोलन चलाया जाय, उसमें बहुत विवेक से काम लेने की जरूरत होती है।

२. ऐसे विवेक के अभाव में स्वदेशी के नाम से एक प्रकार का पाखंड जाने-अनजाने चलता है, बहुतेरे कार्यकर्ताओं की शक्ति व्यर्थ जाती है और आत्म-प्रतारणा होती है।

३. जिस चीज के प्रचार के लिए खासतौर से सहायता करने की या जिसे विज्ञापन की जरूरत नहीं है, वैसी वस्तु के लिए सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को प्रदर्शनी करने की आवश्यकता नहीं है, कारण यह कि इससे भाव ऊंचे हो जाते हैं और एक-दूसरे के साथ स्पर्धा करनेवाले संपन्न व्यापारियों में अनिष्ट तनातनी बढ़ जाती है।

४. मसलन कपड़े, शक्कर या चावल की मिलों को ऐसी सहायता की

जरूरत नहीं मानी जा सकती। यही न्याय बहुत अंशों में कागज की देशी मिलों, तेल की मिलों, विलायती दवाओं के देशी कारखानों, साबुन के कारखानों, चमड़े के बड़े कारखानों वगैरह पर घटित होता है।

५. इसका अर्थ यह है कि विदेशी कपड़ा, चीनी, चावल, कागज, तेल, दवाइयां, साबुन, दंत-मंजन, ब्रुश आदि इस्तेमाल करने में हर्ज नहीं है। विदेशी वस्तुओं के सामने टिकने की शक्ति उनमें न हो, तो उन्हें पूरी-पूरी मदद मिलनी चाहिए और जिन्हें ये चीजें इस्तेमाल करनी ही है, उन्हें इन्हींको तरजीह देना चाहिए।

६. पर जिनके लिए आज स्वदेशी-आंदोलन की जरूरत है, वे ये वस्तुएं नहीं हैं। जरूरत तो आज ग्राम-उद्योगों का संरक्षण करने की है, अर्थात् खादी, गुड़, देहाती शक्कर, हाथकुटा चावल, देहाती कागज, बैल के कोल्हू का तेल,देहाती मसाले, रीठा, सिक्का, दतौन, देहाती झाड़ू, चटाई, टोकरियां, रस्सी, जाजिम, चमड़े की चीजें आदि देहात के सैंकड़ों उद्योग, जो प्रोत्साहन के अभाव में मर गये या मृतवत् जीवित हैं, उनका संजीवन करने की।

७. इस बारे में शहरातियों और पढ़े-लिखों ने देहात के प्रति अक्षम्य लापरवाही दिखाई है।

८. कुछ साल पहले देहात के लोग अपने रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजें तो खुद बना लेते ही थे, छोटे कसबों के रहनेवाले भी अपने रोज के काम की बहुत-सी चीजों के लिए उनके ही मुहताज थे। इसके बदले वे अब वे चीजें शहरों या विदेशों से मंगाते हैं, और जो धंधे देहातवालों के बाप-दादा पुश्त-दर-पुश्त से करते आते थे, वे बंद हो गये हैं। पर शहरातियों और पढ़े-लिखे लोगों ने इसके बारे में कुछ सोचा ही नहीं।

९. अतः आज का देहाती कंगाली, परावलंबन और अहदीपन का शिकार हो गया है। उसमें पचास साल पहले के देहाती की आधी भी बुद्धि या जानकारी नहीं रही। देहाती कारीगर भी देहात के और सब लोगों की तरह अबुद्धि और अनाड़ी बन गया है।

१०. ग्रामवासी जिस क्षण अपनी फुर्सत का अधिकांश समय कोई

उपयोगी काम करने में लगाने का निश्चय करेंगे और नगरवासी देहात की बनी चीजें काम में लाने का संकल्प करेंगे, उसी क्षण देहाती और शहराती का जो संबंध आज टूट गया है, वह फिर जुड़ जायगा।

११. इन कामों में देशभक्तों की एक बड़ी सेना खप सकती है। जितने स्वदेशी-संघ आज काम कर रहे हैं, उन सबके और दूसरों के लिए भी लंबा-चौड़ा मैदान खाली पड़ा है। इसके लिए अगणित उद्योगों के विषय में पक्की जानकारी प्राप्त करना, बहुतों के बारे में खोज करना और अनेक प्रकार के कारीगरों की भलाई में दिलचस्पी लेना जरूरी है। इससे उन बहुसंख्यक लोगों को ईमानदारी और इज्जत का काम करके गुजर करने का जरिया मिल जायगा, जो आज बिना धंधे के भूखों मर रहे हैं।

१२. यह सच्ची, सफल और 'सौ फीसदी स्वदेशी' है।

४

विशेष उद्योग

१. समाज का निर्वाह और उसकी समृद्धि तथा उन्नति अच्छी तरह होने के लिए खेती और वस्त्र के उद्योगों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के उद्योगों की जरूरत पड़ती है—जैसे धातु, कोयले, मिट्टी का तेल इत्यादि की खानों तथा खनिज पदार्थों से संबंध रखनेवाले, नमक, मछली इत्यादि सामुद्रिक पदार्थों से संबंध रखनेवाले; लकड़ी, लाख, रबड़, जड़ी-बूटियां इत्यादि जंगली पदार्थों से संबंध रखनेवाले।

२. ये धंधे जीवन-निर्वाह के लिए खेती और वस्त्र जितने अनिवार्य नहीं हैं, फिर भी आज के सामाजिक जीवन में इन उद्योगों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

३. इन उद्योगों में जनता का बड़ा भाग नहीं लगता, तथापि इनसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की हरएक को जरूरत पड़ती है; इसलिए इनके उपयोग की दृष्टि से इन उद्योगों में समस्त जनता का स्वार्थ है।

४. ऐसे उद्योग सारे देश में नहीं चलते, बल्कि स्थानीय ही होते हैं।

५. इनमें मछली पकड़ने और नमक बनाने के धंधे खेती और चरखे के दरजे के हैं। उनके संबंध में आर्थिक नीति वैसी ही होनी चाहिए, जैसी खेती या चरखे के विषय में हो। जैसे सूत कातना हरएक किसान का हक है, वैसे ही नमक बनाना प्रत्येक समुद्रतटवासी जनता का अधिकार समझा जाना चाहिए।

६. ऊपर बताये दूसरे धंधों में बहुत करके बड़ी पूंजी, विशेषज्ञता, कुशल व्यवस्था, बड़े पैमाने इत्यादि की आवश्यकता है। ऐसे धंधे चाहे व्यक्तिगत साहस से चलें या राज्य की सीधी देख-रेख में, इन पर राज्य का नीचे लिखे अनुसार नियंत्रण होना चाहिए :

(आ) इनमें बननेवाले सार्वजनिक उपयोग के पदार्थों का उपभोग सस्ते-से-सस्ते दामों पर जनता को मिलना चाहिए।

(अ) ये चीजें अच्छी-से-अच्छी बनावट की और टिकाऊ होनी चाहिएं।

(इ) ये धंधे व्यक्तिगत साहस से चलते हों, तो इनके मुनाफे और कीमत पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए।

(ई) इनमें काम करनेवाले मजदूरों की सुख-सुविधा की राज्य को खासतौर से चिंता करनी चाहिए।

(उ) इनमें से जो धंधे छोटे पैमाने पर और थोड़ी पूंजी से तथा गृह-उद्योगों के रूप में चल सकते हों, उन्हें विशाल उद्योग का रूप देते समय ऐसी मर्यादा रखनी चाहिए कि उनके बड़े-बड़े कल-कारखाने उनके गृह-उद्योगों का नाश करनेवाले न हों। गृह-उद्योगों में बन सकनेवाली चीजों की बड़े कारखानों में बनाने की मनाही होनी चाहिए।

७. कपड़े के कारखाने भी जबतक जारी रहें, इसी नियम के अधीन होने चाहिएं।

५

हानिकारक उद्योग

१. शराब, ताड़ी, अफीम, भांग, गांजा, तंबाकू, गोला-बारूद, अस्त्र-

शस्त्र आदि के जैसे जनता की नीति और आरोग्य का नाश करनेवाले उद्योग राज्य को व्यक्तिगत-रूप में नहीं चलने देने चाहिएं, अथवा कड़ा नियंत्रण रखकर ही चलने देने चाहिएं।

२. उन्हें चलाने में राज्य की नीति उनसे पैसा पैदा करने की नहीं, बल्कि दवा-इलाज अथवा दूसरे प्रयोजन के लिए उन पदार्थों की जितनी आवश्यकता हो, उतने ही परिमाण में उनकी उत्पत्ति करने और उन्हें लोगों तक पहुंचाने की दृष्टि रखनेवाली होनी चाहिए।

३. ऐसी चीजों का देसावरी व्यापार परदेशी राज्यों की इच्छा के अधीन रहकर ही चलने देना चाहिए।

६

उपयोगी धंधे

१. सामाजिक जीवन में उद्योगों के अतिरिक्त दूसरे भी कितने ही उपयोगी काम करनेवालों की जरूरत पड़ती है—जैसे शिक्षक, सिपाही, वकील, न्यायाधीश, अधिकारी, डाक्टर, दूकानदार, सफैये (भंगी आदि), क्लर्क, इत्यादि।

२. इन पेशों के लोग प्रत्यक्ष रूप से कोई उपभोग्य पदार्थ उत्पन्न नहीं करते, पर अप्रत्यक्ष रूप से पदार्थों की उत्पत्ति तथा उपभोग में और साथ ही अनर्थकारी पदार्थों के नाश-विकास की समुचित व्यवस्था करने में उनकी जरूरत पड़ती है।

३. इन पेशेवरों के गुजारे का समाज पर जो बोझ पड़ता है, उसे व्यवस्था-खर्च कह सकते हैं। इसलिए इन पेशेवरों की संख्या और इन पर होनेवाला व्यवस्था-खर्च जनता की संख्या और समृद्धि के लिहाज से सीमित होना चाहिए।

४. ये पेशे सेवावृत्ति से होने चाहिएं, पैसा कमाने या धनी होने की वृत्ति से नहीं। अतः एक ओर तो ये धंधे करनेवालों को समाज की स्थिति और समृद्धि की मर्यादा के अनुसार इतना नियत पारिश्रमिक देकर निश्चित कर

देना चाहिए, जिससे उनका जीवन-निर्वाह हो सके, दूसरी ओर उन्हें उतने पर संतोष मानना चाहिए और इस प्रकार मिलनेवाले मेहनताने के अलावा दूसरी आमदनी न करनी चाहिए तथा अपने में जो कुशलता हो, उसका समाज को अधिक-से-अधिक लाभ पहुंचाना चाहिए।

५. ऐसी मर्यादा में रहकर यदि पेशे किये जायं, तो ये समाज के सर्वोदय में सहायक होंगे और इन पेशों में आने के लिए लोगों में अयुक्त लालसा तथा उसकी पूर्ति के लिए कुटिल उपायों के अवलंबन की आवश्यकता न रहेगी।

६. जिन्हें धन बटोरना है, ज़मीन, घर, गहने चाहिएं, जिन्हें अपना विस्तार बढ़ाना है, उनके लिए उद्योग ही आकर्षक द्वार होना चाहिए और उद्योगों में इनके लिए गुंजाइश भी होनी चाहिए। इस प्रकरण में बताये हुए धंधों की आमदनी या मुनाफे की सीमा ऐसी होनी चाहिए कि वे इस प्रवृत्ति के लोगों को अनुकूल न प्रतीत हों।

७. इसके विपरीत जिन्हें सीमित, पर स्थिर और निश्चित जीविका प्राप्त करनी और सेवा करनी है, उनके लिए इन धंधों का द्वार खुला रहना चाहिए। अतः इन धंधों में प्रवेश करने के लिए उन पेशों की आवश्यक योग्यता के सिवा चरित्र भी ऊंचे दरजे का होना चाहिए।

७

ललित कलाएं

१. संगीत, कथा-वार्ता, चित्रकला, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि ललित-कलाएं यदि उचित सीमा में रहें, तो वे जन-समाज के निर्दोष मनोरंजन, ज्ञान-प्राप्ति तथा भावी विकास के साधन हो सकती हैं; मर्यादा के बाहर चली जायं, तो शराब-अफीम जैसे हानिकर व्यसन बन जाती हैं।

२. आमतौर पर ऐसी कलाओं को जीविका का धंधा न बनाना चाहिए, बल्कि हर एक आदमी को इतनी शिक्षा मिलनी चाहिए कि अपनी जीविका के धंधे के अतिरिक्त ऐसी किसी कला में भी दिलचस्पी ले सके।

३. इस कारण जनता के मनोरंज़न आदि लिए के ऐसी कलाओं के प्रदर्शन या जलसों की व्यवस्था लोगों को अपने उत्साह से ही और गैर-पेशेवर मंडलियां बनाकर करनी चाहिए ।

४. ऐसी कलाओं का शौक अमर्याद, अनीति की ओर ले जानेवाला तथा हानिकारक न हो जाय, इसके लिए ऐसे प्रदर्शनों और जलसों पर नियंत्रण और देख-रेख रहनी चाहिए ।

५. ये नियम सामान्य नीति बताते हैं । पर संभव है कि इन कलाओं के द्वारा जीविका-उपार्जन करने की मनाही करना व्यावहारिक और हित-कर न हो । इसलिए जहां उनमें सामर्थ्य हो, वहां ग्राम-पंचायतों को इसे अपना एक फर्ज मानना चाहिए कि ऐसी कलाओं का निर्दोष, ज्ञानप्रद और सद्भावपोषक उपभोग लोगों को मिल सकने की व्यवस्था करें और इसके लिए पिछले प्रकरण में उपयोगी धंधों के संबंध में बताये अनुसार अपनी आर्थिक स्थिति की मर्यादा में रहकर ऐसे पेशेवरों की निश्चिंत वृत्ति बांध दें तथा चरित्रवान कलाविद प्राप्त करें ।

६. जो लोग स्वतंत्रतापूर्वक ऐसे धंधे करना चाहते हैं, उनपर नीति का नियमन होना चाहिए और अनुमति, विशेष कर इत्यादि के बंधन भी लगाये जा सकते हैं ।

७. ऐसी कलाओं की उचित पुष्टि और वृद्धि के लिए राज की ओर से, सुविधा देखकर, उनके विशेषज्ञों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है । इसमें तारतम्य का भंग नहीं होता हो, तो वैसा करना उचित होगा ।

८. हरएक कारीगर, जो अपने धंधे में कलावृत्ति दिखाये, प्रोत्साहन देने योग्य समझा जाय और कला की इस तरह से उन्नति करने की ओर राज्य को प्रथम ध्यान देना चाहिए ।

खंड ८ : : गोपालन

१

धार्मिक दृष्टि

१. हिंदू-धर्म में गोपालन को धार्मिक महत्व दिया गया है और गोवध महापाप माना गया है तथा गोरक्षा राजाओं और वैश्यों का एक विशेष कर्तव्य बताया गया है। इसलिए इस कार्य के निमित्त लाखों रुपये दान किये जाते हैं। पर यह सब होते हुए भी, उचित दृष्टि के अभाव से, हिंदुस्तान के पशुओं की दशा गो-भक्षक देशों से भी अधिक दयनीय है।

२. गोपालन-संबंधी धार्मिक दृष्टि में नीचे लिखे अनुसार विकास होने की आवश्यकता है :

(अ) अपंग और निर्बल पशुओं का पालन करना मात्र गोपालन का क्षेत्र नहीं है; गाय और बैलों की नस्ल सुधारना, गाय को अधिक सत्व-वाली और अधिक दूध देनेवाली बनाना तथा बैल की किस्म सुधारना भी गोपालन-धर्म में सम्मिलित है।

(आ) अतः पींजरापोल-ऐसी आदर्श गोशालाएं होने चाहिएं, जो लोगों को गोपालन का पदार्थ-पाठ दे सकें—उसका प्रत्यक्ष उदाहरण बन सकें। गायों के रखने-खिलाने का स्थान, उन्हें घास, दाना आदि देने के तरीके और नतीजों का लेखा रखने में शास्त्रीय सावधानता और शास्त्रीय विधि से काम करने का अभ्यास प्रकट होना चाहिए।

(इ) पींजरापोल को इस दृष्टि से अच्छे सांड पालने चाहिएं कि पशुओं की नस्ल सुधारने में गांव के लोग उनका प्रयोग कर सकें।

(ई) पींजरापोल में चर्मालय-विभाग भी होना चाहिए और मरे ढोरों के हाड़-मांस तथा चमड़े के धंधे के प्रति घृणा-दृष्टि रखने के बदले कर्तव्य-दृष्टि होनी चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि जो मालिक मरे पशुओं के

हाड़-मांस और चमड़े का उपयोग[1] नहीं होने देता, वह उनकी हत्या को उत्तेजन देता है, इसलिए जीवदया-धर्मी को उचित है कि वह मरे पशुओं के ही हाड़-मांस और चमड़े का सदुपयोग करने का आग्रह रखे।

(उ) जीवित पशु की अपेक्षा कत्ल किये गये पशु का अधिक मूल्यवान माना जाना धार्मिक दृष्टि से भयानक है, यह सोचकर जीवित पशुओं का आर्थिक महत्व बढ़ाने का यत्न करना धार्मिक-कर्तव्य समझा जाना चाहिए।

(ऊ) बैल को बधिया करना अनिवार्य है, यह मानकर बधिया करने की क्लेश-रहित शास्त्रीय विधि जान लेनी और पींजरापोलों में उससे काम लेना चाहिए।

(ए) जब प्राणी को ऐसा कष्ट होता हो कि उसके अपंग होकर भी बचने की आशा न हो, वह केवल यंत्रणा भोगने के लिए ही जी रहा हो, तो उसके प्राण त्याग का दुखहीन उपाय कर देना दया-धर्म है, इस विचार को स्वीकार कर लेना चाहिए।

२

अन्य प्राणियों का पालन

१. गो शब्द में सामान्यतः समस्त प्राणियों का समावेश होता है, यह सही है; फिर भी उसके व्यवहार में—अहिंसा की दृष्टि से भी—थोड़ा विवेक करने की आवश्यकता है। बिना विवेक किये प्राणियों का पालन परिणाम में हिंसा ही बढ़ाता है।

२. ऐसे विवेक के अभाव में भैंस के दूध-घी का उपयोग गाय और भैंस दोनों की हिंसा बढ़ानेवाला साबित हुआ है। कारण—

(क) भैंस ठंडक और पानी में रहनेवाला प्राणी है। उसे गर्मी और सूखे प्रदेशों में रखना उसके साथ क्रूरता करना है।

[1] हाड़-मांस के उपयोग के मानी कोई 'खाने के लिए' न समझे। मतलब उनकी खाद तथा दूसरी उपयोगी चीजें बनाने से है। —लेखक

(ख) पशुओं का कोई उपयोग न हो सकने से उनका वध होता है।

(ग) बैल के लिए गाय का और दूध के लिए भैंस का पालन होने के कारण भैंस की तरह गाय का पालन लाभदायक नहीं होता; इससे गाय को अधिक दुधार बनाने का प्रयत्न नहीं होता और उसके कत्ल को उत्तेजन मिलता है।

३. इस कारण भैंस का घी-दूध त्यागकर उसका पालन बंद कर देना उचित है। इसका अर्थ भैंसों का कत्ल करना नहीं, उनकी बाढ़ रोकना है।

४. इसी तरह विवेक से विचार करने पर गलियों में भटकनेवाले कुत्तों को खिलाना गलत धर्म साबित होगा। जो लोग कुत्तों के शौकीन हों, उन्हें चाहिए कि उन्हें ठीक तरीके से पालें और उनकी सब तरह से खोज-फ़िक्र रखें। पर गली-गली भटकनेवाले कुत्तों को खिलाकर उन्हें बढ़ने देना उनको यंत्रणा देना है। इससे उनकी जातीय अधोगति होती है; दूसरे लोगों को असुविधा होती है और उनके पागल हो जाने का भय रहता है।

५. बंदर, कबूतर, चींटी इत्यादि जीवों को खिलाने का धर्म तो इससे भी अधिक भूल-भरा है। जिन प्राणियों का जीवन मनुष्यों पर अवलंबित नहीं और जिनका मनुष्य के लिए कोई उपयोग नहीं, उन्हें पोसना नासमझी है। इससे अंत में अपनी कठिनाइयां और इन प्राणियों की हिंसा दोनों बढ़ती हैं।

६. जो लोग जैन अथवा वैष्णवों में प्रचलित प्राणियों के प्रति अहिंसा धर्म की दृष्टि को नहीं मानते, उनके द्वारा, पूर्वोक्त उपद्रवों के कारण, ऐसे प्राणियों का बार-बार वध होना अचरज की बात नहीं है। ऐसे प्राणी के वध के लिए उन्हें खिलाना धर्म समझनेवाला वर्ग ही अधिकांश में जिम्मेदार है। इसलिए वैसे अवसरों पर उनका क्रोध करना बेमौका है।

३

प्राणियों के प्रति क्रूरता

१. प्राणियों को एक झटके में काट डालने की अपेक्षा उनके प्रति

क्रूरता का व्यवहार करने में कम हिंसा नहीं है। ऐसी हिंसा हिंदुओं में खूब होती है।

२. फूंका लगाना, कांटेदार पैने से कोचना, हद से ज्यादा बोझा लादना, पेटभर खाना न देना, पूंछ मरोड़ना, इधर-उधर भटककर पेट भरने के लिए छोड़ देना, घायल या पीड़ित अंगों का इलाज-सम्हाल न करना बेकाम हो जाने पर घर से निकाल देना, कुटावकर बधिया करना आदि तरीके अमानुषी और क्रूर हैं।

३. इसके फलस्वरूप हिंदुस्तान के गाय, बैल, घोड़े, गधे, बिल्ली इत्यादि सभी प्राणी इस हालत में जीते हैं कि देखकर रोंगटे खड़े हो जायं।

४

गोवध

१. हिंदुओं की धार्मिक दृष्टि के संतोषार्थ ही नहीं, हिंदुस्तान की आर्थिक दृष्टि से भी गोवध की मनाही होनी चाहिए।

२. पर ऐसा होने तक हिंदुओं को धीरज रखकर, समझा-बुझाकर और सेवा से उसे रोकने का यत्न करना चाहिए।

३. गोवध रोकने के लिए मनुष्य (मुसलमान) का वध करना अधर्म है।

४. गाय की कुरबानी फर्ज नहीं है, यह समझकर मुसलमान गाय की कुरबानी बंद कर दें, तो यह उनका परम-सत्कृत्य समझा जायगा। इससे दूसरे नंबर का सुकृत्य यह होगा कि यह काम वे ऐसे खानगी तौर पर करें कि हिंदुओं का दिल न दुखे।

५. जो इस तरह खुले-खजाने गायकशी करता है कि हिंदुओं के दिलों को चोट पहुंचे या गाय का जुलूस निकालता है, वह धर्म-कार्य नहीं करता। ऐसे आचरण की मनाही होनी चाहिए।

६. त्योहार के दिन गाय की कुरबानी करनेवाले मुसलमान की बनिस्बत खाने के लिए रोज गायों को कत्ल करवानेवाला अंग्रेजी राज्य हिंदुओं का

और साथ ही हिंदुस्तान का अधिक द्रोह करता है।

५

मरे ढोर

१. अपना पालतू पशु मर जाने पर उसके हाड़-मांस और चमड़े को काम में लाने के विचार में अनुदारता है, कुछ लोगों की यह धारणा बन गई है। इससे या तो उस पशु के किसी भी अंग का कोई उपयोग नहीं किया जाता, या ढेढ़-चमार उसका गलत तरीके पर अथवा अधूरा उपयोग करते हैं। वे उसका मांस खाते हैं, उसे घसीटते हुए ले जाते और उसका चमड़ा खराब करके उतारते हैं। हड्डियां भी बेकार पड़ी रहती हैं।

२. यह खयाल छोड़ने की जरूरत है। अपने पशु को जीते-जी अच्छी तरह पालना और मरने पर मानपूर्वक उसे उठवाकर उचित स्थान पर पहुंचा देना चाहिए। यह प्राणी मरने के बाद भी अनुपयोगी नहीं होता, यह सोचकर जीवित रहते उसके साथ दया का व्यवहार करने की जरूरत है, और जिस प्रकार जीवित रहते उसका उपकार ग्रहण किया, उसी प्रकार मरने के बाद भी उसके शरीर का कृतज्ञ-बुद्धि से उपयोग करने में बुराई नहीं है।

३. मरे ढोर का उपयोग न किया, तो आर्थिक दृष्टि से वह महंगा ही पड़ता है। नतीजा यह होता है कि गाय-भैंस पालना लोगों से चलता नहीं और संपूर्ण गोपालन-धर्म छूट जाता है।

४. मरे ढोर को घसीटकर ले जाने का रिवाज बुरा है। इससे चमड़ा घिस जाता है और चमड़े की कीमत घट जाती है। उसे या तो उठाकर या गाड़ी में लादकर ले जाना चाहिए।

५. उसका चमड़ा ठीक तरह से उतारकर हड्डी-मांस इत्यादि की खाद बनाकर उपयोग करना चाहिए। उसकी आंतों से भी काम की चीजें बनती हैं।

६. इस धंधे में फैलाव की बहुत गुंजाइश है। अतः पढ़े-लिखे लोगों को इसकी विद्या सीख लेना जरूरी है।

खंड ६ : : खादी

१

चरखे के गुण

१. सहायक धंधे के रूप में चरखे में जो गुण हैं, वे दूसरे किसी उद्योग में नहीं हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं :

(अ) यह सुसाध्य है, तत्काल-साध्य है; क्योंकि—

(१) इसमें किसी बड़े आले-औजार की जरूरत नहीं होती। रूई घर की और औजार भी घरेलू।

(२) इनमें न बहुत बुद्धि की आवश्यकता है न बहुत कुशलता की। अपढ़-गंवार किसान भी इसे आसानी से कर सकता है।

(३) इसमें भारी मेहनत की भी जरूरत नहीं है। स्त्रियां कातें, लड़के कातें, बूढ़े कातें, बीमार कातें, और

(४) यह परीक्षा में पास हो चुका है।

(आ) कतैये को घर बैठे धंधा मिलता है, हमेशा उसका सूत बिक सकता है और गरीब के घर हमेशा दो पैसे की वृद्धि होती है।

(इ) बारिश की भी इसे गरज नहीं है; सूखे में भूखे का बेली बन जाता है।

(ई) न इसमें कोई धार्मिक रुकावट, और न ऐसा धंधा कि लोगों को रुचे नहीं।

(उ) लोगों को घर बैठे काम मिलता है, इसलिए मिल के मजदूरों को जो खेती और घर-बार छोड़कर भागना पडता है, उनका कुटुंब छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह डर इसमें नहीं है।

(ऊ) इस कारण हिंदुस्तान की ग्राम-पंचायतें, जो आज मृतप्राय हो गई हैं, उनके उद्धार की आशा इसमें समाई हुई है।

(ए) किसान की तरह बुनकर का भी काम इसके बिना नहीं चल सकता। जो बुनकर आज हिंदुस्तान की एक तिहाई आवश्यकता पूरी करने-भर कपड़ा बुनते हैं, वे किसी दिन चरखे के अभाव में बरबाद हुए बिना न रहेंगे।

(ऐ) इनका उद्धार हुआ कि हजार धंधों का उद्धार हो जायगा। बढ़ई, लुहार, धुनिये, रंगरेज—सबमें फिर प्राण आ जायगा।

(ओ) यही एक ऐसी चीज है, जिससे धन के असमान विभाजन में समानता आ सकती है।

(औ) इसीसे बेकारी जायगी। किसान को फुरसत के वक्त काम मिलेगा। इतना ही नहीं, आज जो पढ़े-लिखों के दल-के-दल काम बिना भटकते हैं, उन्हें भी पूरा काम मिल जायगा। इस धंधे के पुनरुद्धार का कार्य करना इतना बड़ा है कि प्रबंध और संचालन के काम में हजारों पढ़े-लिखों की खपत हो जाय।

२. इसके उपरांत चरखा जहां फिर से दाखिल हुआ है, वहां उसके द्वारा हुए अवांतर लाभ भी इसकी गुण-गणना में लिये जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं :

(अ) चरखे ने कितने ही लोगों के जीवन और हृदय को बदल दिया है।

(आ) चरखे की बदौलत शराबखोरी घटने लगी है और किसान कर्ज से छुटकारा पाने लगा है।

३. अकाल में संकट-निवारण के कामों में चरखा सफल साबित हुआ है।

२

चरखे के संबंध में खाम-खयाल

१. चरखे के विषय में अनेक टीकाएं होती हैं, उनकी जड़ में हैं चरखे के संबंध में अनेक गलत धारणाएं। वे धारणाएं क्या हैं, यह नीचे के उत्तरों से मालूम हो जायगा।

२. चरखा मिलों की प्रतिद्वंद्विता नहीं करता ; कर सकता भी नहीं, पर मिलें चरखे से स्पर्धा करती हैं, और उस हद तक वे बंद कराने योग्य हैं।

३. जिस सशक्त मनुष्य को अपनी पूरी शक्ति और अपने पूरे समय का उपयोग करने-भर को काम मिल जाता है, उसे वह काम करने से रोकना चरखे का उद्देश्य नहीं है।

४. चरखा कुल मिलाकर देश के धन की अवश्य वृद्धि करता है, और पूरी मजदूरी दी जाय, तो चलानेवाले का गुजर करा सकता है । पर चरखे से कोई धनवान होने की आशा रखे, तो पछतायगा। यह चरखे का दोष नहीं, बल्कि गुण है, क्योंकि इससे धन का समान बंटवारा अपने-आप ही हो जाता है।

५. हिंदुस्तान के किसानों का आज खेती से बचनेवाला छः महीने का समय निरर्थक जाता है, जिसके परिणामस्वरूप बेकारी और गरीबी का टेढ़ा प्रश्न उपस्थित हाता है। इस प्रश्न का तात्कालिक, व्यावहारिक और स्थायी इलाज चरखा है, इतना अवश्य चरखावादियों का दावा है।

६. चरखे से आमदनी भले ही फूटी कौड़ी के बराबर ही होती हो, पर किसान का तो आधा साल बेकार जाता है, जिसमें उसे फूटी कौड़ी की भी आमदनी नहीं होती और उसे बेकारी का रोग लग जाता है। इन दो बातों के लिए हिंदुस्तान के अर्थशास्त्र में चरखे का महत्वपूर्ण स्थान है।

७. ऊपर जो यह कहा गया है कि चरखे से बेकारों को नाम की ही सही, पर कुछ आमदनी तो हो सकती है, वह आत्म-संतोष के लिए नहीं, बल्कि चरखे की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए कहा गया है। सच पूछिये तो क्या चरखे की, क्या किसी दूसरे श्रम की मजदूरी नहीं के बराबर रहे, यह संतोष-जनक स्थिति नहीं। इस संबंध में अधिक विचार 'स्वावलंबी और व्यापारी खादी' में किया गया है।

३
खादी और मिल का कपड़ा

१. खादी और मिल में प्रतिद्वंद्विता नहीं समझनी चाहिए और ठीक

हिसाब लगाया जाय, तो है भी नहीं।

२. चरखा करोड़ों का गृह-उद्योग और जीवन का आधार है। मिल का उद्योग अगर इस तरह चलाया और चलने दिया जाय कि चरखे का नाश हो जाय, तो उसे चलाने और चलने देनेवाले जन-हित का विचार नहीं करते।

३. इसलिए यदि मिलें रहें, तो उनका क्षेत्र कपड़े के क्षेत्र से बाहर रहना चाहिए। अर्थात् करोड़ों लोग जिस तरह का सूत कात और बुन सकते हैं, वैसा सूत और कपड़ा बनाने की मिलों को मनाही होनी चाहिए।

४. व्यक्तिगत नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की दृष्टि से विचार करें, तो किसी वस्तु की लागत कीमत आंकने में सिर्फ उसके उत्पादक के माल पूंजी और मजदूरी में लगे हुए खर्च का ही विचार नहीं करना चाहिए, बल्कि इस रीति से वह चीज बनाने से अगर वेकारों की तादाद बढ़ती है, तो उन वेकारों के खाना-खुराक का खर्च जनता के सिर पड़ता है, इसलिए उस खर्च को भी इस वस्तु की तैयारी पर पड़ा समझना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर खादी की अपेक्षा मिलें देश को महंगी जान पड़ेंगी[1]।

५. राज्य-व्यवस्था साधारण जनता का हित देखनेवाली हो, तो बेकारी

[1] इस विचार को समझने में श्री ग्रेग की पुस्तक से लिया गया नीचे लिखा हिसाब उपयोगी होगा—हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के द्वारा एक आदमी जितना सूत कातता और कपड़ा बुनता है, उससे मिल में (१९२६ ई० के हिसाब के अनुसार) कताई आदमी पीछे फी घंटा २०३ से २३६ गुना तक और बुनाई २० गुना अधिक होती है। अर्थात् दोनों बराबर-बराबर घंटे काम करें, तो सूत की मिल का मजदूर २०० से अधिक कतैयों को और मिल का बुनकर २० हाथ-बुनकरों को वेकार बनाता है। ऐसे वेकारों का पौना भाग या समय दूसरे धंधों में लगता है। इतनी उदारता से हिसाब करें, तो भी २६७॥ लाख मनुष्यों की तीन आने रोज की मजदूरी का नुकसान होता है। इनके निर्वाह का खर्च यदि विदेशी और स्वदेशी मिलों के कपड़ों पर रखा जाय, तो फी गज पौने दो आना, और सिर्फ विदेशी कपड़े

दूर करने का पक्का बंदोबस्त किये बिना मिल को खादी के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने ही न देगी।

६. ऐसी व्यवस्था के अभाव में जनता को ही गरीबों के प्रति सहानुभूति से प्रेरित होकर मिल का यह धंधा रोकना चाहिए।

७. मिल की हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा को रोकने के अहिंसात्मक उपाय ये हैं—विदेशी वस्त्र तथा खादी के क्षेत्र में उतरनेवाली देशी मिलों का बहिष्कार और धरना, खादी पहनने की प्रतिज्ञा, खादी के लिए दान तथा यज्ञार्थ कताई।

४

चरखा और हाथ-करघा

१. चरखे के बदले सिर्फ हाथ-बुनाई के धंधों को उत्तेजन देना और मिल के सूत का नहीं, केवल मिल की बुनाई-भर का बहिष्कार करना चाहिए—यह सुझाव, चरखे के बारे में लोगों में जो गलतफहमी है, उससे पैदा होता है। कारण यह है कि :

२. हाथ-कताई का उद्योग जिस प्रकार सार्वत्रिक हो सकता है, उस

पर रखें, तो छः आना दो पाई कीमत उस कपड़े की बढ़ जायगी।

यदि राष्ट्रीय सरकार इन बेकारों का निर्वाह-खर्च कपड़े की मिलों से प्रत्यक्ष कर के रूप में वसूल करे, तो स्पष्ट हो जाय कि मिल का कपड़ा सस्ता नहीं है। आज इस खर्च को जनता परोक्ष रीति से देती है, इस कारण कपड़े के बाजार भाव में यह दिखाई नहीं देती। अधिक विस्तृत चर्चा के लिए पाठकों को श्री ग्रेग की पुस्तक पढ़नी चाहिए। —लेखक

(इसका हिंदी अनुवाद 'खद्दर का संपत्ति-शास्त्र' के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हुआ है। —अनुवादक)

प्रकार हाथ-बुनाई के उद्योग के सार्वत्रिक होने की संभावना नहीं है ।[1]

३. चरखा सह-उद्योग ही हो सकता है और बुनाई स्वतंत्र उद्योग के रूप में चल सकती है, यह बात उक्त सलाह देनेवालों के ध्यान में नहीं आई ।

४. अगर कानून के द्वारा मिल की बुनाई बंद न हो, बल्कि जनता के प्रयत्न से ही उसका बहिष्कार करना पड़े, तो बुनकरों को मिलों की दया पर ही अवलंबित रहना पड़ेगा, क्योंकि मिलें तो हाथ बुनाई की प्रतिद्वंद्विनी हैं और दिन-दिन मिलें ही बुनाई का काम अधिक करती जा रही हैं। यह प्रतिस्पर्द्धा अधिक कड़वी और घातक होती जानेवाली है ।

५. इसके विपरीत हाथ-करघा और चरखा दोनों जुड़वां भाई-बहन हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकते ।

६. प्रत्येक घर में एक चरखा और थोड़ी आबादीवाले हरएक गांव में एक करघा, यह आनेवाले युग के विधान का मंत्र है।

५

खादी-उत्पादन की क्रियाएं

१. खादी-उत्पादन से संबंध रखनेवाली—लोढ़ने से लेकर बुनाई तक की—सब क्रियाएं गृह-उद्योग द्वारा ही होनी चाहिएं। यदि इसमें से किसी भी क्रिया में कारखाने का सहारा लेना पड़े, तो यह किसी दिन खादी के उद्देश्य को खतरे में डाल सकता है ।

[1] १९३१ की जन-गणना के अनुसार भारत को रोज़ दो करोड़ गज कपड़े की आवश्यकता होती है। (यह कुल कपड़ा हाथ-करघे पर बुनाया जाय तो भी) इसमें अधिक-से-अधिक रोज दो घंटा काम करनेवाले एकाध करोड़ बुनकरों को हम काम में लगा सकते हैं। यदि कहा जाय कि इतने बुनकर नहीं बल्कि इतने कुटुंबों को काम मिलेगा, तो रोज के दो आने भी उतने लोगों में बंट जायंगे। फलतः फी आदमी आमदनी और भी कम हो जायगी ।

—लेखक

२. अतः ओटाई और धुनाई चरखे की आनुषंगिक अंग समझी जानी चाहिएं।

३. ओटनी, धनुष, चरखे तथा करघे में जो कुछ सुधार किये जायं, वे इस बात का ध्यान रख कर किये जाने चाहिएं कि गृह-उद्योग के रूप में इनका नाश न हो।

४. खादी-सुधार के लिए कपास इकट्ठा करने से लेकर बुनाई तक की सब क्रियाओं और साथ ही यंत्र का भी सूक्ष्मता से अध्ययन करके सबमें सुधार करना जरूरी है।

५. इसके लिए पहली सीढ़ी यह है कि जिसके यहां कपास की खेती होती है, वह अपने इस्तेमाल के लिए अपनी ही कपास इकट्ठी कर रखे। ऐसा करनेवाला किसान अच्छा बीज प्राप्त करने की चिंता रखेगा और कपास को पौधों पर से इस तरह चुन लेगा कि उसमें कचरा न आने पाये। किसान यह खुद ही करने लग जायगा, पर इसका महत्व समझाने तथा उसे राह दिखाने और सुझाव देने की जरूरत है।

६. हाथ-ओटनी में कपास के बीज को नुकसान नहीं पहुंचता और रूई के रेशों की मजबूती कम नहीं होती। ताजी ओटी हुई रूई को धुनना आसान होता है।

७. अच्छी कताई अच्छी पूनी पर बहुत-कुछ अवलंबित होती है। जो कातना जानता है, वह अच्छी और खराब पूनी का भेद समझता है और जो धुनना जानता है, वह उनकी क्रियाओं की बारीकी समझता है। अतः धुनना जाननेवाला दूसरे की पूनी का इस्तेमाल लाचारी दर्जे ही करता है।

८. खराब पूनी सूत के नंबर घटाती और टूटे तारों का बिगाड़ बढ़ाती है; इस कारण आर्थिक दृष्टि से वह बहुत हानिकर है।

९. रूई की क़िस्म जितना बरदाश्त कर सके, उससे मोटा कातना या अधिक महीन कातना, दोनों हानिकर क्रियाएं हैं। पर सामान्यतः कतैयों का रुख मोटा कातने की ओर होता है। इसे रोकने की जरूरत है। खादी-उत्पादकों को इसका खयाल रखना चाहिए कि रूई की किस्म जितना सह

सके, उतना ही महीन सूत कताया जाय।

१०. सूत पूरे कस का और समान निकले, इस पर भी उत्पादकों को नजर रखनी चाहिए।

११. महीन सूत के मानी हैं थोड़ी रूई में ज्यादा कपड़ा, कसदार सूत के मानी हैं टिकाऊ कपड़ा और समान सूत का अर्थ है एक-सा और सुंदर कपड़ा। फिर, सूतं कसदार और एक-सा हो, तो बुनकर कम मजदूरी पर उसे बुनने को तैयार रहता है। इस कारण खादी सस्ती करने के ये महत्वपूर्ण अंग हैं।

१२. खादी-सेवक को उत्पत्ति-संबंधी सब क्रियाओं का अनुभवयुक्त ज्ञान होना चाहिए। इसके सिवा खादी-उत्पत्ति-संबंधी सभी यंत्र के गुण-दोष का ज्ञान और उसकी मरम्मत करना भी उसे आना चाहिए। उसे खुद इतना कारीगर होना चाहिए कि गांव के किसानों को ही नहीं, बढ़ई, लुहार इत्यादि कारीगरों को भी सिखा और राह बता सके। इसके सिवा उसे खादी के आर्थिक अंग का भी ज्ञान होना चाहिए।

६

स्वावलंबी और व्यापारी खादी

१. किसान अपने ही खेत की कपास से खुद ओट-धुन-कात ले और सिर्फ बुनाई के पैसे खर्च करे, तो वह खादी मिल के कपड़े की अपेक्षा उसे सस्ती पड़ती है। यह वस्त्र-स्वावलंबन कहलाता है। जो किसान इसके साथ बुनाई की क्रिया सीखकर बुनने लगे, तो वह पूरा स्वावलंबी हो जायगा और कपड़ा उसे बहुत सस्ता पड़ेगा।

२. किसान बाजार से—खास करके राह-खर्च लगाकर आई हुई—रूई खरीदकर पूर्वोक्त क्रियाएं खुद करे तो वह कपड़ा मिल के कपड़े से आज कुछ महंगा पड़ता है, पर सूत के कस और अंक में सुधार होने से इसकी कसर निकल जायगी। खादी को टिकाऊ बनाने में जितने अंश में सफलता प्राप्त होगी, उतने अंश में खादी सस्ती हुई समझना चाहिए।

३. व्यापारी खादी की क़िस्मों और सस्तेपन में जो तरक्की अबतक हुई है, उससे उसके भाव के विषय में और साथ ही चरखे का काम सही दिशा में किया गया उद्योग है, इस बारे में भी कोई शंका नहीं रहती।

४. परंतु व्यापारी खादी को सस्ती करने में जो मेहनत उठाई गई है, वह सब सही रास्ते पर नहीं हुई है, यह अब साफ दिखाई दे रहा है। जिन गरीबों के हित के लिए यह कार्य उत्पन्न हुआ है, उन्हें इसके द्वारा गुजर-भर की मजदूरी मिलती है या नहीं, इस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया।

५. खादी या दूसरे ग्राम-उद्योग के उद्धार के लिए काम करनेवाले सेवकों और संघों का धर्म केवल किसी उद्योग को जैसे-तैसे चालू कर देना ही नहीं है, बल्कि इस बात की जांच करना भी है कि उन उद्योगों में लगे हुए लोगों को रोटी चलने भर की मजदूरी मिलती है या नहीं। यदि परिश्रम करने-वाले को उतना पारिश्रमिक न मिलता हो, तो कहना होगा कि उस उद्योग के उद्धार से गरीब की मेहनत का बेजा फायदा उठाया जाता है।

६. इसके सिवा उन्हें इतनी मजदूरी चुका दी या मिल गई, इतने से ही संतोष नहीं मान लेना चाहिए, बल्कि उन्हें प्रत्येक मजदूर के जीवन में प्रवेश करना और यह देखना चाहिए कि वह अपने धंधे में अच्छे-से-अच्छा कारी-गर हो और अपनी आमदनी अच्छे-से-अच्छे तरीके से खर्च करे।

७. खादी के विषय में नीचे बताये नियम तमाम ग्राम-उद्योगों पर यथायोग्य रीति से लागू किये जा सकते हैं :

(क) प्रत्येक कार्यकर्ता को कपास चुनने से लेकर सूत बुनने तक की सभी क्रियाएं ठीक तौर से जान लेनी चाहिएं, जिसमें वह दूसरे को भी सिखा सके।

(ख) व्यवस्थापकों को अपने-अपने क्षेत्र में काम करनेवाले धुनियों, कतैयों और बुनैयों की एक फेहरिस्त रखनी चाहिए।

(ग) अपने कातनेवाले कौन-सी रूई इस्तेमाल करते हैं, यह भी वे जान लें और यह ध्यान रखें कि जितने अंक तक का सूत निकालने की ताकत रूई में हो, उससे अधिक नंबर का सूत न काता जाय।

(घ) कत्तिनों तथा खादी बनाने में सहायक दूसरे कारीगरों से साफ कह देना चाहिए कि वे अपने घर में खादी व्यवहार न करेंगे, तो उन्हें काम न मिलेगा।

(ङ) इस चेतावनी के साथ-साथ ऐसी सुविधा भी कर देनी चाहिए, जिसमें उन्हें मजदूरी के बदले में ही खादी मिल जाय।

(च) खादी कार्यालय में आनेवाली सूत की हर एक अट्टी की मजबूती और समानता जांचनी चाहिए और जैसे कच्ची रोटी नहीं खाई जाती, वैसे ही कमजोर या असमान सूत नहीं लेना चाहिए।

(छ) साधारणतः हरएक कत्तिन का सूत अलग ही रखना चाहिए और जब कपड़ा बनाने भर को पूरा जमा हो जाय, तब उसे अलग बुनवा लेना चाहिए। इससे खादी मजबूत बनेगी और बुनाई तथा सफाई में भी सुधार हुए विना न रहेगा।

(ज) इस तरह तैयार हुए हरएक थान पर, यदि ओटनेवाला, धुनने-वाला, कत्तिन और बुनकर अलग-अलग हों, तो सबके नाम की चिट लगी होनी चाहिए।

(झ) जहां कारीगर कुटुंबीजन हों, वहां उपर्युक्त तमाम क्रियाएं अपने ही कुटुंब में कर लेने की प्रेरणा उन्हें करनी चाहिए और उत्तेजन देना चाहिए। अगर मजदूरी समान या लगभग समान कर दी जाय, तो यह काम बहुत आसान हो जाय।

(ञ) इन कारीगरों के जीवन और उनके आमद-खर्च की पक्की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और जो अपनी आमदनी का उपयोग विवेक-सहित करते हों, उनकी मदद करनी चाहिए।

(ट) यदि कभी बिक्री कम होने से संघ में काम करनेवाले कारीगरों की संख्या कम करनी पड़े, तो पहले उन्हें कम करना चाहिए, जिनके पास रोजी का दूसरा साधन हो। मेरी समझ में तो आज यह स्थिति है कि कितने ही प्रांतों में केवल आजीविका के ही लिए कातनेवालियां नहीं कातती हैं, बल्कि थोड़ी कोर-कसर करके दो पैसे बचाकर तुच्छ चीजें खरीदनेवाली स्त्रियां

भी कातती हैं। ये न तो अच्छा खाना खाने की जरूरत महसूस करती हैं और न कर्ज चुकाने की ही।

(ठ) हर जगह कार्यकर्ताओं को धनुष और चरखे को बारीकी से देखना होगा। खासकर यह देखना होगा कि चरखे का तकुआ पूरे चक्कर करता है या नहीं; क्योंकि जो दर बढ़ाने की तजवीज हुई है, उसका मतलब यह नहीं कि चाहे जिस कत्तिन को और चाहे जिस कातनेंवाले को बढ़ी हुई दर दी जाय। दर तो कुछ जरूर बढ़ेगी, पर वह तो उन्हींको मिलेगी, जो आज जितना कातते हैं, उतने ही समय में उससे अधिक और अधिक अच्छा कातेंगे। जो कतवैये या कत्तिनें अपनी कताई की रीति में सुधार नहीं करेंगी, उन्हें कुछ भी बढ़ती मिलने की संभावना नहीं है, सिवा इसके कि खादी की मांग ही बढ़ जाय।

(ड) ऊपर के कथन से यह अर्थ निकलता है कि चरखा संघ को नये चरखे, नये तकुए, नये मोढ़िये वगैरह अच्छे साधन शुरू में कुछ सस्ते भाव में देने होंगे। बहुत-सी जगहों में तो माल और तकुए के सुधार से सूत की किस्म अपने-आप ही सुधर जायगी।

७

यज्ञार्थ कताई

१. यज्ञार्थ कताई का अर्थ है अपने आर्थिक लाभ की दृष्टि न रखकर गरीबों के उपयोग के लिए कातना।

२. जिसे गरीबों के और देश के हित का खयाल है, उसे इस प्रकार प्रतिदिन यज्ञार्थ कातना चाहिए।

३. इससे वे गरीब लोग कातने में लगेंगे, जिन्हें थोड़ी आमदनी की जरूरत होती है।

४. इसके सिवा हम लोग, जो कोई उत्पादक श्रम किये बिना बहुत-सी चीजों का उपभोग किया करते हैं, उत्पादक श्रम की महिमा समझेंगे और उसमें अपना कुछ हिस्सा अदा कर सकेंगे।

५. इस प्रकार धनी और गरीब दोनों एक प्रकार के श्रम में समान हिस्सेदार बनकर एक-दूसरे से समुचित संबंध रख सकेंगे।

६. इसके सिवा चरखे को त्यागकर विदेशी कपड़े को लाने का हमने जो पाप किया है, यज्ञार्थ कताई उसका प्रायश्चित्त-रूप भी समझी जा सकती है।

७. इस कारण आज कातना केवल स्त्रियों ही नहीं, बल्कि पुरुषों और बच्चों का भी फर्ज है।

८. जो अपना सूत खुद कात लेते हैं, वे देश के लिए आवश्यक कपड़े के बारे में अपनी जिम्मेदारी खुद उठाकर सहायता देते हैं। पर इसे यज्ञार्थ कताई नहीं कह सकते।

९. इस तरह कातने के श्रम का दान बहुत बड़े परिमाण में देश को मिले, तो इससे भी व्यापारी खादी गरीबों की मजदूरी कम हुए बिना सस्ती हो सकती है।

८

खादी-कार्य

१. खादी की उत्पत्ति और बिक्री के काम में सैंकड़ों उच्चाकांक्षी युवकों के लिए अपनी बुद्धि, व्यवस्था-शक्ति, व्यापारिक चतुरता और शास्त्रीय ज्ञान के प्रदर्शन का लंबा-चौड़ा मैदान खुला पड़ा है। इस एक ही काम को सम्यक् रीति से संपन्न कर दिखाने से राष्ट्र अपनी स्वराज्य-संचालन की योग्यता सिद्ध कर सकता है।

२. इसके सिवा खादी-रूपी सूर्य के आस-पास देहात के अनेक उद्योग ग्रहों की तरह बढ़ सकते हैं और उसके द्वारा जबरन निरुद्यमी और आलसी बने हुए लोगों के घर रोजी और धंधों से आबाद हो जायंगे।

३. इसके सिवा यह काम आत्मशुद्धि के कार्य में बहुत बड़ी सहायता दे रहा है। इसके निमित्त से कार्यकर्ता गांव-गांव में स्वराज्य का और

उसकी तैयारी के रूप में किये जानेवाले रचनात्मक कार्यक्रम (अहिंसा, मद्यपान-निषेध, अस्पृश्यता-निवारण, स्वच्छता, राष्ट्रीय एकता आदि) का संदेश पहुंचा रहे हैं।

४. खादी-शास्त्र के संबंध में सब प्रकार की जानकारी देने और खोज-छानबीन करनेवाले एक विभाग की जरूरत है।

खंड १० : : स्वच्छता और आरोग्य

१

शारीरिक स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के विषय में हिंदुस्तान की कुछ जातियों ने तो ठीक तौर से ध्यान दिया है, पर साधारण जनता में इस विषय में अभी बहुत काम करना है।

२. बच्चे की सफाई पर तो उन जातियों में भी बहुत कम ध्यान दिया जाता है। बालक के खुद सफाई रखने के लायक होने से पहले उसके मां-बाप उसे साफ-सुथरा रखने की फिक्र रखते हों, यह नहीं दिखाई देता।

३. नित्य स्नान करना चाहिए, इसे हिंदुओं का बहुत बड़ा भाग धार्मिक नियम की भांति मानता है; पर हिंदू-मात्र ऐसा मानते हैं, यह नहीं कह सकते। दूसरे हिंदुस्तानियों में रोज नहाने की आदत आम नहीं है। हिंदुस्तान में रोज नहाना स्वच्छता और साथ ही आरोग्य के लिए आवश्यक है।

४. पर नहाने का मतलब सिर्फ बदन गीला कर लेना ही नहीं है। बहुतेरे नित्य नहानेवाले इससे आगे नहीं बढ़ते। नहाने के मानी हैं शरीर का मैल साफ करके त्वचा के छिद्रों को खोल देना। अतः नहाने का पानी पीने के पानी जितना ही साफ होना चाहिए। ऐसा पानी काफी मात्रा में रोज न मिल सके, तो गंदे पानी में नहाने की बनिस्बत साफ पानी में कपड़ा भिगोकर उससे शरीर को रगड़कर पोंछ डालना कहीं अच्छा है। हमारे देश में गांवों में ही नहीं, बड़े-बड़े कसबों में भी लोग जैसे पानी से नहाते हैं, उसे नहाने लायक नहीं कह सकते।

५. आंख, नाक, कान, दांत, नाखून, बगल, काछ आदि अवयव, जिनसे मैल निकलता है अथवा जिनमें मैल भरा रहता है, उनकी सफाई की

तरफ सभी लोगों में—खासकर बच्चों के बारे में—बहुत लापरवाही रखी जाती है। छोटे बच्चों में आमतौर पर होनेवाली आंख की बीमारियां रोज आंख और नाक को साफ पानी और कपड़े से साफ न कर देने का नतीजा है। इस विषय में सफाई के लिए मुनासिब आदतें लगाने और गंदगी से घिन करना सिखाने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अतः ग्राम-सेवकों और शिक्षकों को इस विषय पर बहुत बारीकी से ध्यान देना चाहिए।

६. कपड़ों की सफाई भी शारीरिक-स्वच्छता का ही भाग है। कपड़ों की गंदगी का कारण केवल दरिद्रता ही नहीं कही जा सकती। बहुतेरी गंदगी तो अच्छी आदतें न पड़ी होने से और आलस्य के कारण रहती हैं।

७. चकती लगे कपड़ों से हमारी दरिद्रता प्रकट होती है, तो इससे हमें शर्मिंदा होने की जरूरत नहीं। शूरवीर के लिए जैसे घाव भूषणरूप होता है, वैसे ही गरीब के लिए पैबंद भी भूषण समझा जाता है। पर कपड़ों को फटा और गंदा रखकर मनुष्य अपनी गरीबी का नहीं बल्कि अपने फूहड़-पन और आलस्य का विज्ञापन करता है और यह जरूर शर्मिंदा होने लायक बात है।

८. साफ कपड़े दूध की तरह सफेद होने चाहिएं, ऐसी बात नहीं है। मेहनत-मजदूरी करनेवाले गरीब लोग सफेद दूध जैसे कपड़े रखकर पार नहीं पा सकते। पर साफ पानी से उन्हें बार-बार धोना, बीच-बीच में साबुन या खार आदि से धो लेना और गरम पानी में डालकर जंतुरहित कर लेना आवश्यक है।

९. बदन पर पहने हुए कपड़ों से ही नाक, हाथ, वगैरह पोंछना और उनमें रोटियां या खाने की दूसरी चीजें बांध लेना बड़ी गंदी आदत है। जिनके पास बदन पर के कपड़ों के सिवा दूसरा कपड़ा नहीं है, उन्हें छोड़-कर औरों को तो इसके लिए पुराने कपड़ों में से छोटा-सा रूमाल बनाकर उसका उपयोग करना चाहिए। इसमें कुछ खर्च नहीं लगता और स्वच्छता की रक्षा होती है। इसे साफ रखना बहुत आसान है।

२

साफ-सुथरी आदतें

१. शारीरिक स्वच्छता के सिवा और भी साफ-सुथरी आदतें डालने की जरूरत है। इनके अभाव में हम उन लोगों के दिलों में नफरत पैदा करते हैं, जिनकी आदतें सुथरी हैं।

२. हमारी आंखों को ऐसा अभ्यास होना चाहिए कि वे गंदगी को देखकर खामोश न रह सकें। इसका अर्थ यह नहीं है कि गंदगी को देखकर हम वहां से खिसक जायं, बल्कि फौरन उस गंदगी को दूर करने का उपाय करें।

३. सुथरी आदतोंवाला आदमी कभी बैठने की जगह को साफ किये बिना न बैठेगा, और जब उठेगा, तब भी उसे साफ कर देगा। वह हर जगह कागज के टुकड़े या दूसरा कूड़ा-करकट न फेंकेगा। जहां-तहां थूकेगा नहीं। दतौन का चीरन, बीड़ी के ठूंठ, जली हुई दियासलाइयां चाहे जहां नहीं फेंकेगा। बल्कि इन सबके लिए खास टोकरी या दूसरा बरतन रखकर उसीमें फेंकेगा।

साफ-सुथरी आदतें लगाने के लिए नीचे के नियमों का पालन करना चाहिए :

४. पानी लिये बिना पाखाने नहीं जाना चाहिए।

५. पाखाने से आकर हाथ-पांव को मलकर धोना चाहिए और पाखाने का लोटा—खास उसीके लिए न हो तो—अच्छी तरह मलकर मांजना चाहिए।

६. पीने के पानी के मटके में डुबोने को अलग बरतन रखना चाहिए। जूठा बरतन तो उसमें कदापि न डालना चाहिए। मटके के पास इस तरह खड़े रहकर पानी नहीं पीना चाहिए कि पानी की छींटे मटके पर पड़ें।

७. जहां बहुत-से लोगों के लिए पीने का एक ही बरतन हो, वहां प्याले या गिलास को मुंह से लगाकर पानी पीना अनुचित है। ऊपर से

पीने की आदत डालनी चाहिए और जो इस तरह न पी सकें, उन्हें अपना बरतन अलग रखना चाहिए या चुल्लू अंजली से पीना चाहिए।

८. जहां भोजन किया हो, वहां यदि खाने की चीजें बिखरी हों, तो उन्हें उठाकर उस जगह को, घर के अंदर हो तो धोकर और खुले में हो तो अच्छी तरह बुहारकर, साफ कर देना चाहिए। ऐसा होने के पहले उस जगह में घूमना-फिरना जूठन-चिपके पांवों से साफ जगहों और कमरे में आना-जाना तथा उस जगह दूसरों को भोजन कराना अनुचित है। इसके सिवा ऐसा स्थान मक्खियों की बला को न्योता देने के समान है।

९. साधारणतः कलछी या चमचे से ही परोसना चाहिए। साग, दाल या भात-जैसी चीजें हाथ से नहीं परोसनी चाहिएं। इससे भी ज्यादा खराब है जूठे हाथों से परोसना। रोटी अथवा पूरी-जैसी सूखी चीजें भी जूठे हाथ से नहीं देना चाहिए।

१०. परोसने का बरतन खानेवाले की थाली या कटोरी से छुआकर परोसना अस्वच्छता है और छू जाने के डर से परोसने के बजाय थाली में दूर से फेंकना या बिखेरना असभ्यता है।

११. गंदे पांवों अपने बिछौने पर पैर नहीं रखना चाहिए। अनेक मनुष्य जहां साथ सोये हों, वहां चलने-फिरनेवाले को किसीका बिछौना रौंदना न चाहिए।

१२. काम से आकर अथवा लघुशंका करके हाथ धोये बिना खाने की चीज को न छूना चाहिए, न पीने के पानी के मटके में हाथ डालना चाहिए। पान, तंबाकू, बीड़ी आदि के व्यसनवालों को इस विषय में खास एहतियात रखनी चाहिए। कितनों के शरीर में बराबर खुजली होती रहती है। कितनों को बार-बार नाक साफ करनी पड़ती है। ऐसे आदमियों को भी हाथ धोकर ही खाने-पीने की चीजें छूनी चाहिएं।

१३. जिस डोल या बाल्टी में कपड़े धोये हों, उसे मांजे और उसकी चिकनाई दूर किये बिना उसे कुएं में नहीं डालना चाहिए और न पीने-पकाने का पानी उससे भरना चाहिए।

१४. पेशाब, कुल्ली करने, थूक वगैरह के लिए मोरियों का उपयोग करने का रिवाज बहुत ही गंदा है और बहुत ही अच्छा हो कि ऐसी मोरियां घर में रखी ही न जायं। इसके लिए खास बरतन काम में लाना और उन्हें दूर ले जाकर साफ करना अच्छे-से-अच्छा कायदा है। जिन गांवों में गंदे पानी के निकास के लिए अच्छी नहर (गटर) की व्यवस्था नहीं है, वहां मोरियों से काम नहीं लेना चाहिए।

१५. तथापि जहां मोरियों से ही काम लेना पड़े, वहां नाली में पेशाब करने के लिए बैठनेवाले को चाहिए कि नजदीक कोई बरतन आदि पड़ा हो, तो उसे इतनी दूर रखदे, जिससे उसपर छींटे न पड़ने पायें, इसके सिवा इस तरह हाथ धोना या कुल्ली नहीं करनी चाहिए, जिससे उसपर छींटे पड़ें।

१६. मुंह से भद्दी गालियां निकालने की आदत भी एक प्रकार की अस्वच्छता ही है। जिस जीभ से परमात्मा का नाम लिया जाता है, उसी जीभ से गंदी गालियां निकालना नहाकर घूरपर लोटने से भी ज्यादा गंदा काम है, क्योंकि इससे जीभ के साथ-साथ मन भी अपवित्र होता है।

३

बाह्य स्वच्छता

१. शारीरिक स्वच्छता के विषय में शायद ऊपरवाले वर्गों को प्रमाण-पत्र दिया जा सके, पर घर, आंगन, गली वगैरह की सफाई के बारे में नहीं दिया जा सकता। हां दलित जातियां अलबत्ता इस बारे में छोटी-मोटी सनद पा सकती हैं। पर सभीको इस विषय में अपने जीवन में बहुत सुधार करने की आवश्यकता है।

२. जहां-तहां थूकने, मल-मूत्र त्याग करने, कूड़ा फेंकने और उसे इकट्ठा होने देने की आदत हिंदुस्तान के गांव, शहर, तीर्थक्षेत्र, रास्ते, नदी, तालाब, धर्मशाला, स्टेशन, रेल, जहाज वगैरह को कलंकित कर डालती है।

३. इस आदत की जड़ में अस्पृश्यता समाई हुई है। आदमी जहां

रहेगा, वहां गंदगी के निमित्त तो पैदा होंगे ही। पर हिंदुस्तान के स्पृश्य वर्गों ने खुद गंदगी साफ करने के काम को हलका समझकर और उस परोपकारी काम करनेवालों को अस्पृश्य मानकर, जहां वे नहीं जा सकते, वहां से गंदगी को नियमित रीति से दूर करने के बदले इकट्ठी करने का रिवाज डाल रखा है और अस्पृश्यों से सहयोग न करके उनके मत्थे इतना ज्यादा काम मढ़ दिया है, जो उनके किये हो नहीं सकता। परिणामस्वरूप देश में अनेक प्रकार के उपद्रवों को वसा रखा है और आम इस्तेमाल के स्थानों को ऐसा वना दिया है कि देखकर रोएं खड़े हो जायं।

४. ऊपर बताये सार्वजनिक स्थानों में थूकना, मल-मूत्र त्याग करना और कूड़ा फेंकना पाप है और इसे अपराध मानना चाहिए।

५. पान, तंबाकू वगैरह की आदत न हो, तो निरोग मनुष्य को दंतुअन के सिवा दूसरे वक्त में थूकने की जरूरत नहीं होती। दांत, नाक या फेफड़े के बीमार को बार-बार थूकना या छिनकना पड़ता है। इससे जाहिर होता है कि पान-तंबाकू आदि की आदत डालने के मानी हैं निरोगी होते हुए भी रोगी को मिलनेवाला कष्ट भोगना। मनुष्य के थूक तथा बलगम में बहुत तरह के जहर होते हैं। ये जहर हवा में मिलकर तंदुरुस्त आदमी को भी छूत लगा देते हैं। अतः थूक, बलगम आदि को नष्ट करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

६. हर घर में थूकने के लिए राख से भरी हुई एक अथरी या हंडिया होनी चाहिए और उसीमें सबको थूकना चाहिए। उसे रोज दूर खेत में ले जाकर खाली करना और दूसरी राख से भरना चाहिए। थूकने के लिए पीकदानी इस्तेमाल की जाती हो; तो उसे हर जगह साफ नहीं करना चाहिए। बंबई जैसे शहरों में, जहां गटरों का पूरा इंतजाम है, वहां भले ही वह नाली पर धोई जाय, पर देहात और कसबों में तो उसे खेतों में खाली करके उसपर सूखी मिट्टी डाल देनी चाहिए, या गरम-गरम राख उसपर डालकर वह राख दूर फेंक आनी चाहिए।

४

शौच[1]

१. सड़क पर पाखाना फिरने की आदत तो हर्गिज न होनी चाहिए। खुली जगह में लोगों के देखते पाखाना फिरना बल्कि बच्चों तक को फिराना असभ्यता है।

२. इसलिए प्रत्येक गांव में घूर की जगह में सस्ते-से-सस्ते पाखाने बनवाने चाहिएं और उन्हें नियमित रूप से रोज साफ कराना चाहिए।

३. जो 'जंगल' ही जाना हो, तो गांव से एक मील दूर, जहां आबादी न हो, वहां जाना चाहिए। जंगल बैठते वक्त गड्ढा खोद लेना चाहिए और क्रिया पूरी करने के बाद मलपर खूब मिट्टी डाल देनी चाहिए। समझदार किसान को चाहिए कि वह अपने खेतों में ही पूर्वोक्त प्रकार के पाखाने बनाकर अथवा 'जंगल' जाकर मैला गाड़े और बे-पैसे की खाद ले।

४. इसके सिवा बालक, बीमार तथा बेवक्त के इस्तेमाल के लिए हर घर के साथ एक पाखाना जरूर होना चाहिए। उसके लिए कनस्तर के अद्धे या मिट्टी के गमले का उपयोग किया जा सकता है और उसमें भी हर आदमी को पाखाना फिरने के बाद काफी मिट्टी डाल देनी चाहिए। कनस्तरों को रोज किसी खेत में गड्ढा खोदकर उसमें खाली करना चाहिए और गड्ढे को साफ मिट्टी से भर देना चाहिए। कनस्तर को इस तरह साफ करना चाहिए कि बदबू न रहे।

५. पाखाने में पानी और पेशाब के लिए अलग डिब्बा या डोल रखना चाहिए, जिससे बाहर जरा भी गीला न होने पाये।

६. संडास पाखाने बिल्कुल बेकार हैं। इतनी गहराई में खाद पैदा करनेवाले जंतु नहीं रहते। इससे उनमें गंदी गैस पैदा होती और हवा को

[1] यह तथा इसके आगे के कितने ही प्रकरण गांधीजी लिखित 'गामड़ानी वहारे' नामक लेखमाला के आधार पर लिखे गये हैं। 'ग्राम-सेवा' के नाम से यह पुस्तिका 'मंडल' से प्रकाशित हो चुकी है। मूल्य ।=) है।

बिगाड़ती है।

७. गलियों में पेशाब करना पाप समझना चाहिए। अतः इसके लिए भी काफी मिट्टी भरे हुए मटके रखने चाहिएं, जिससे न बदबू आये, न छींटे उड़ें।

८. हरएक आदमी को पाखाना खुद साफ करने की तालीम लेनी चाहिए। इससे पाखाना गलत तरीके से रखने या गलत तौर पर इस्तेमाल करने से कितनी मेहनत बढ़ जाती है, इसका उसे खयाल रहेगा और वह खयाल से पाखाना बनवाना, कनस्तर आदि लगाना और काम में लाना सीख लेगा। साथ ही भंगी समाज की कितनी कठिन सेवा कर रहा है, यह समझ जायगा। वह यह भी जान जायगा कि अच्छी तरह इस्तेमाल किया जाय, तो पाखाना साफ करने में घिन लगने की कोई वजह नहीं और भंगी की कठिनाइयों का कारण इस क्रिया की मलिनता नहीं, बल्कि इसके इस्तेमाल करने के बारे में बरती जानेवाली लापरवाही है।

९. मनुष्य के मल-मूत्र की भांति ही पशुओं के गोबर और मूत्र का भी खाद के रूप में ही उपयोग करना चाहिए। गोबर के कंडे बनाना करेंसी नोट को जलाकर ताप डालने जितना महंगा सौदा है। पशुओं के मूत्र का कोई उपयोग नहीं होता, इससे वह आर्थिक ही नहीं, आरोग्यता की दृष्टि से भी हानिकर होता है।

५

जलाशय

१. तालाब, कुएं और नदी का पानी साफ रहे, इस ओर ग्राम-पंचायतों और ग्राम-सेवकों को खूब ध्यान देना चाहिए।

२. जलाशयों की आज की स्थिति बहुत शोचनीय है। तालाब में ही बरतन साफ किये जाते हैं, नहाया और कपड़ा धोया जाता है, मवेशी भी उसीमें पानी पीते हैं, नहाते हैं और पड़े भी रहते हैं; उसमें बच्चे और बड़े तक आबदस्त लेते हैं। उसके पास की जमीन पर तो मल-त्याग करते

ही हैं और यही पानी पीने, खाना पकाने के काम में लाया जाता है—यह सब पाप माना जाना और बंद होना चाहिए।

३. गांव के तालाब के चारों ओर बांध बना देना चाहिए, जिससे मवेशी उसमें न जा सकें और उसके नजदीक खेल (लंबी हौज) पशुओं के पानी पीने का बनाना चाहिए।

४. इसी प्रकार कपड़े धोने के लिए तालाब के पास एक टंकी होनी चाहिए और उसपर ऐसी पक्की जगह बना देनी चाहिए, जिससे उसका पानी फिर तालाब में न पहुंचकर दूर निकल जाय।

५. इस खेल तथा टंकी को गांव के लोग अगर हाथों-हाथ रोज भर दिया करें, तो उत्तम है, वरना थोड़े खर्च से उनके भरने की व्यवस्था करनी चाहिए।

६. जूठे बरतन तालाब या कुएं में न धोने चाहिएं, बल्कि बाहर की टंकी में मांज-धोकर ही जलाशय में उन्हें डुबोना चाहिए।

७. पानी भरनेवाले को अपने पांव पानी में न डुबोने पड़ें, ऐसी सुविधा तालाब में होनी चाहिए।

८. जिस गांव में एक ही तालाब हो, वहां तालाब के अंदर नहाना नहीं चाहिए। जहां अधिक तालाब हों, वहां पीने के पानी का तालाब अलहदा रखना चाहिए।

९. कुओं को समय-समय पर मिट्टी निकलवाकर साफ रखना चाहिए। उसके चारों ओर मुंडेर होनी चाहिए और कीचड़ न होने देना चाहिए। इसके लिए उसकी जगह पक्की बनानी चाहिए, और पानी रसकर कुएं में वापस न जाय, इसके लिए गिरनेवाले पानी को दूर निकालने का इंतजाम होना चाहिए।

१०. इस तरह पानी को दूर ले जाने के लिए घर, कुएं आदि के सामने बनी हुई नालियों में काई और घास-पात जम जाती है। उसमें से बदबू निकलती है और मच्छरों को बढ़ने की जगह मिलती है। अतः इन नालियों की सफाई पर निरंतर ध्यान दिया जाना चाहिए और उन्हें रोज कूंचे से

रगड़कर साफ कर देना चाहिए।

६

रोग

१. रोग व रोग के बाहरी लक्षणों के बीच में जो भेद है, उसे समझ लेना चाहिए।

२. सिर दुखना, बुखार आना, दम फूलना वगैरह रोग नहीं हैं, बल्कि शरीर में पैदा हुए जहरों या रोगों के दिखाई देनेवाले परिणाम हैं।

३. प्राणियों का रक्त ऐसे परोपकारी जंतुओं से बना हुआ है, जो शरीर में पहुंचे हुए जहरों को निकाल डालने की जोरों से कोशिश करते हैं। यह बलवान प्रयत्न ही बुखार, सांस, सूजन, दर्द इत्यादि के रूप में प्रकट होता है।

४. जिन कारणों से यह जहर पैदा हुए हों या होते रहते हों, वह सच्चा रोग है, बुखार वगैरह तो बाहरी चिह्न-मात्र हैं।

५. गिरने, चोट लगने आदि आकस्मिक दुर्घटनाओं से उत्पन्न रोगों को छोड़कर मोटे हिसाब से यह कहा जा सकता है कि रोग-मात्र का कारण है असंयमी जीवन।

६. खाने-पीने, विषय-भोग, सोने-जागने में अनियम, आलस्य, अतिश्रम, नाटक-सिनेमा इत्यादि विलास तथा द्वेष, क्रोध, रोग इत्यादि भावनाओं के बलवान वेग आदि—यही असंयम रोगों को न्योता देनेवाले हैं।

७. ये असंयम अज्ञान से होते हों, भूल से होते हों, मजबूरी से होते हों या जान-बूझकर होते हों, सबका परिणाम शरीर को रोग के रूप में भोगना पड़ता है।

८. ये कारण मौजूद हों और उसमें अस्वच्छ हवा, अस्वच्छ पानी और गंदगी आ मिले, तो रोग पैदा हो जाते हैं।

९. यह देखा जाता है कि स्वच्छ और संयमी जीवन बितानेवाले को छूत के रोगियों के बीच में रहते हुए भी रोग नहीं होते। इससे प्रकट होता

है कि मनुष्य के रक्त में बाहरी जहरों को हटाने की बड़ी ताकत होती है। असंयम के कारण इस बल के घट जाने पर ही छूत लगती है।

१०. रोग के कारणों को रोकना पहला इलाज है। इन इलाजों में भी पहला इंद्रियों और मन के संयम के साथ स्वच्छ तथा उचित आहार-विहार तथा यथेष्ट परिश्रम और नींद है और दूसरा है साफ हवा, साफ पानी तथा कपड़े, घर, आंगन, गलियों वगैरह की सफाई।

७

इलाज

१. शरीर में अस्वस्थता मालूम होने पर रोग को रोकनेवाले इलाजों पर अमल करना पहली सीढ़ी है।

२. इन इलाजों पर ठीक अमल हो, तो रोग बहुत करके स्वाभाविक रूप से ही अच्छे हो जाते हैं। दवाइयां अधिकतर तो निकम्मी और हानिकर भी होती हैं।

३. आहार-विहार की भूलों को दूर किये बिना सिर्फ हवा-पानी के सुधार से रोग दूर करने की इच्छा करना शरीर को साफ पानी से धोकर मैले गमछे से पोंछने-जैसा है। और इन दोनों को सुधारे बिना दवा से आराम होने की कामना करना ऐसा है, जैसे यह मानना कि मैला कपड़ा काला रंग लेने से साफ हो जाता है।

४. दवा के अलावा दूसरे वैज्ञानिक इलाज हैं, जिनका हरएक को ज्ञान होना चाहिए। ये आसानी और बिना खर्च के किये जा सकते हैं।

५. हरएक गांव में दवाखाना या अस्पताल होना चाहिए, यह खयाल गलत है। अनेक गांवों के बीच एक दवाखाना या अस्पताल भले ही हो। गांव के दवाखाने के मानी आमतौर से ग्राम-सेवक के उपचार होना चाहिए।

६. सबसे अच्छा उपचार है उपवास और उसके साथ कटिस्नान तथा सूर्यस्नान। इसकी उपयुक्त विधि का ज्ञान स्वयंसेवक को प्राप्त कर लेना

चाहिए।[1]

७. इसके अलावा भीगी मिट्टी की पट्टी बहुतेरे रोगों और बुखारों का इलाज कही जा सकती है। बुखार तेज चढ़ा हो, सिर दुखता हो, पेट या पेड़ू में दर्द हो, भीतरी चोट या दूसरे कारणों से कहीं सूजन आई हो, नकसीर फूटी हो, खसरा, खाज इत्यादि चर्मरोग हुए हों, कब्ज रहता हो, अच्छी नींद न आती हो, जहरीले जंतु ने डंक मारा हो—इन सबमें बिना कंकड़ी की बारीक मिट्टी भिगोकर उसकी पट्टी दर्द-तकलीफ की जगह बांधना और एक पट्टी या लेप सूख जाने पर दूसरा बांधना अकसीर और प्राकृतिक इलाज है।

८. सेंक की जरूरत हो—जैसे फोड़े को पकाना हो, सांस लेने में कष्ट-कठिनाई होती हो, थकावट या सरदी की पीड़ा हो—तो गरम पानी में छोटा तौलिया निचोड़कर खाल जल न जाय इस प्रकार सेंक लेने से बहुत आराम मिलता है। बालू, मिट्टी या ईंट से भी, उसे गरम करके कपड़े में लपेटकर, जले नहीं इसका ध्यान रखते हुए, सेंक लिया जा सकता है।

९. किसीके बीमार होते ही तुरंत उसका बिछौना दूसरे लोगों से अलग कर देना चाहिए। उसके आस-पास से आदमियों और चीज-वस्तु की भीड़ कम कर देनी चाहिए। उसको इस तरह लिटाना चाहिए, जिससे काफी प्रकाश और झोंका न लगते हुए हवा मिल सके। उसके कपड़े, चादर, ओढ़ना वगैरह साफ रखने चाहिएं। उसके कंबल, बिछौने, तकिया वगैरह को दूसरे-तीसरे रोज तेज धूप में रखना चाहिए।

१०. बीमार को दवा देने से ज्यादा जरूरत है उसके शरीर, मन और पेट को आराम देने की। इनमें से पेट को आराम देने की बात पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

११. अगर भुखमरी से ही रोग न लगा हो, तो रोगी को चाहे जो मर्ज हुआ हो, उसका पेट बिगड़ा न हो—ऐसा क्वचित ही होता है। इसलिए

[1]. इस विषय में गांधीजी की 'आरोग्य-साधन' पुस्तक पढ़नी चाहिए।

उसके पेट को हलका करना उपचारक का पहला काम है। इसके लिए वस्ति (एनिमा) देना पहला उपाय है और अगर बुख़ार जोर का न हो, तो एकाध जुलाब दिया जा सकता है। इसके साथ एक या दो लंघन कराने में तो कोई हानि है ही नहीं। यदि बीमार बहुत कमजोर हो, तो उसे अधिक उपवास कराये जायं या नहीं, इसके लिए किसी अनुभवी की सलाह लेना आवश्यक है। ऐसे सलाहकार मिलें या न मिलें, पर इतनी बात तो अच्छी तरह समझ ही रखनी चाहिए कि जब बीमार का खून रोग के जहरों से लड़ाई लड़ रहा हो, उस समय भोजन पचाने का बोझा उसपर नहीं होना चाहिए और यदि उसे खुराक देनी ही पड़े, तो वह हलकी-से-हलकी और सिर्फ प्राणधारण-भर को ही होनी चाहिए।

१२. गाय या बकरी के दूध को ऐसी हलकी खुराक कह सकते हैं। १० से २० तोला तक दूध बीमारी में प्राण टिका रखने को काफी समझा जा सकता है।

१३. पर बीमारी और लंघन में भी रोगी को साफ पानी काफी मात्रा में पिलाना चाहिए। पानी के साथ सोडा बाईकार्ब और थोड़ा नमक देना अच्छा है। खट्टा नीबू भी साधारणतः दिया जा सकता है और जड़ैया बुखार में जब उलटी होती हो या सिर दुखता हो, तब नीबू जरूर देना चाहिए।

१४. जड़ैया बुखार में कुनैन देनी ही पड़े, ऐसा हो सकता है। पर ऊपर बताई हुई सावधानी रखी जाय, तो आमतौर से डाक्टर जिस बड़ी मिकदार में देते हैं, उसकी जरूरत नहीं पड़ती। कुनैन को नीबू के रस में सोडा के साथ लेने से कम नुकसान करने की संभावना रहती है।

१५. बुखार बहुत तेज हो और उसे जल्दी उतारना इष्ट हो, तो भीगी चादर का उपाय किया जा सकता है। यह उपाय 'आरोग्य-साधन' पढ़कर समझ लेना चाहिए।

१६. बुखार मियादी न हो, फिर भी बीमारी बहुत दिनों तक बनी रहे, तो समझना चाहिए कि हवा-पानी बदलने की जरूरत है और बीमार

को दूसरे प्रकार की आवहवा में ले जाना चाहिए। आरोग्य के लिए प्रसिद्ध स्थानों की ही तलाश की जाय, यह जरूरी नहीं है।

१७. ऊपर बताये गये इलाज आकस्मिक बीमारियों के लिए हैं। पुराने लंबे रोग, जैसे क्षय, कोढ़, रक्तपित्त आदि का इलाज भी इन तरीकों से किया जा सकता है; पर उनमें अनुभवी व्यक्ति की सलाह और धीरज की जरूरत होती है।

१८. दवा का सहारा लेने की आदत बुरी है। कोई पुराना रोग दवा से मिटता ही नहीं, यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है।

१९. डाक्टरों को चाहिए कि रोगियों को सीधे-सादे उपचार सिखायें और दवा पर उनका विश्वास न जमायें।

२०. डाक्टरों की दवा पर विश्वास अक्सर वैसा ही अंधविश्वास होता है, जैसा ओझा-सोखा के जंतर-तंतर और झाड़-फूंक आदि पर होता है। रोगी को अच्छा करनेवाली तो उसके खून में मौजूद कुदरती प्राण-शक्ति ही है। रोग से वह शक्ति हार न जाय, तो रोगी बच जाता है। उसे हारने न देने के लिए ऊपर बताये हुए उपचारों को काफी समझना चाहिए। फिर भी रोगी न बचे, तो समझना चाहिए कि उसकी आयु समाप्त हो चुकी थी। डाक्टरों और झाड़-फूंकवालों के पीछे दौड़-धूप और पैसों की बरबादी न करनी चाहिए।

२१. सोडा बाईकार्ब को दवा मानें तो वह, और कभी रेंडी के तेल जैसा जुलाब तथा कुनैन और बाहरी उपचार के लिए आयोडिन—इससे अधिक दवाइयां रखने की ग्राम-सेवक को जरूरत नहीं है, यह कह सकते हैं। इनके अलावा यदि वस्ति (एनिमा) का साधन उसके पास हो, तो समझ लेना चाहिए कि उसका औषधालय काफी हो गया।

८

आहार

१. मांसाहार की मनुष्य को कोई आवश्यकता नहीं है।

२. हिंदुओं का पतन मांसाहार छोड़ने के कारण हुआ है, यह खयाल भ्रम-भरा और असलियत से भी दूर है, क्योंकि हिंदू राजाओं और सैनिक जातियों ने बहुत समय तक मांसाहार छोड़ दिया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता।

३. यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि मांसाहार न करनेवाली जनता शरीर से काफी सशक्त, नीरोग और बहादुर नहीं हो सकती।

४. निरामिष आहार का समर्थन करते हुए भी मांसाहारी से द्वेष करना उचित नहीं। हिंदुस्तान में बहुतेरी जातियों को महज गरीबी के कारण ही मांसाहार करना पड़ता है।

५. दूध भी मांस ही है, तथापि उसमें प्राणीवध-रूपी हिंसा नहीं है—इतना फर्क है। चित्तशुद्धि में दूध का आहार विघ्नरूप है।

६. पर निरामिष-भोजी हिंदू जनता के लिए दूध के बदले कोई दूसरी वनस्पतिजन्य खुराक नहीं बतलाई जा सकती, जो पूरा पोषण देनेवाली हो। अतः दूध को अपवाद किये बिना चारा नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि दूध सबको मिल सके, इसका उपाय करने की जरूरत है।

७. निरामिषाहार में फल अथवा बिना रांधी खुराक कुदरती होने के कारण श्रेष्ठ है। दूसरे सब प्राणी कुदरत की तैयार की हुई खुराक उसके मूल-स्वरूप में ही खाते हैं। मनुष्य के इसमें अपवाद होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

८. तथापि इस कुदरती स्थिति से पतित होकर हमने रांधने का जंजाल ऐसा उठा लिया है कि मनुष्य-जाति का बड़ा भाग अब केवल प्राकृतिक भोजन पर निर्वाह करने के अयोग्य-सा हो गया है और जो खुराक स्वाभाविक रूप से ली जा सकनी चाहिए, वह अब कुशल अन्नशास्त्री की सलाह के बिना ग्रहण नहीं की जा सकती, ऐसी हालत हो गई है।

९. इससे रांधना बहुतों के लिए अनिवार्य हो गया है। तथापि रांधने का अर्थ बफाना, सेंकना और भूनना यही होना चाहिए। पर मनुष्य ने इतने से ही संतोष नहीं किया। रांधने के सुधार (या बिगाड़) के स्वीकार के बाद वह जीभ की उपासना में फंसा और अनेक मसाले और पकवान के

प्रकार खोज निकाले। शरीर के निर्वाह के लिए दवा के तौर पर ही जिसकी जरूरत समझी जानी चाहिए थी, वह वस्तु जीवन का एक महत्व का व्यवसाय बन गई है और उसके पीछे जीवन का बड़ा समय और शक्ति बरबाद होती है।

१०. आरोग्य की दृष्टि से, विकारों की दृष्टि से और समय की दृष्टि से भी मसालों और विविध प्रकार के व्यंजनों का उपयोग दोषरूप और त्याज्य है।

११. साग-तरकारी और फल हम हिंदुस्तान में जितना खाते हैं, उससे अधिक परिमाण में खाने की आवश्यकता है। विशेष करके टमाटर, मूली, ककड़ी आदि तरकारियां तथा पत्र-शाक बिना पकाये खाना जरूरी है। खुराक में दाल की अपेक्षा सब्जी -खासकर बिना पकाई ताजी हरी सब्जी—की ज्यादा जरूरत है।

१२. चाय और कहवा (काफी) बिल्कुल नये व्यसन हैं। ऐसे किसी पेय की हम लोगों को आदत ही नहीं थी। इन पेयों से कोई लाभ नहीं हुआ है। ये दोनों हानिकारक पदार्थ हैं। चाय की खेती मानव-हिंसा से भरी हुई है। इन पेयों ने भोजन-खर्च व्यर्थ बढ़ा रखा है। इनकी बदौलत देहात में दूध रहने नहीं पाता और चीनी के उपयोग में हानिकारक वृद्धि हुई है।

१३. कितने ही अनुभवियों का मत है कि चाय, कहवे, तमाखू, भांग, गांजे, अफीम वगैरह का कोई व्यसनी स्थिरवीर्यता का दावा करे, तो वह माना नहीं जा सकता।

९

व्यायाम

१. बचपन से जिसे आवश्यक शारीरिक श्रम करना पड़ता है, उसे अखाड़े की कसरतों की क्वचित् ही जरूरत होती है।

२. अखाड़े की कसरतें खास करके बैठकर करने के धंधे करनेवालों, सिपाहीगिरी करनेवालों और उदर-निर्वाह के लिए पहलवानी करनेवालों

के लिए हैं।

३. अखाड़े की कसरतों से मनुष्य दीर्घायु और नीरोग अथवा बहादुर और श्रम-सहिष्णु बनता ही है, ऐसा नहीं देखा जाता। ऐसे बहुत-से कसरती देखने में आते हैं, जो शरीर से पहलवान होते हुए भी हृदय के कायर हैं और कसरत के सिवा दूसरे शारीरिक कष्ट तथा सरदी-गरमी के प्रभावों से ढीले पड़ जाते हैं।

४. अखाड़े की कसरतें विकारवर्द्धक हैं, क्योंकि उनके परिणामस्वरूप साधारणतः शरीर में गरमी बढ़ती है और भोजन तथा भोग की शक्ति वेग-वान हो जाती है।

५. फिर भी अखाड़े की कसरतों का एकबारगी निषेध करना अभीष्ट नहीं है। दूसरी तालीमों की तरह उनका भी मर्यादित स्थान है।

६. संघ-व्यायाम—कवायद—बहुत उपयोगी तालीम है और उसकी सब युवक-युवतियों को जरूरत है।

७. सात्विक कसरतों में शरीर की तंदुरुस्ती के लिए महत्व की कस-रत चलना है। यह जो व्यायामों का राजा कहा गया है, यह यथार्थ है।

८. इसके बाद आसन और प्राणायाम सात्विक व्यायाम माने जा सकते हैं; क्योंकि इन व्यायामों का प्रधान उद्देश्य शरीर को भोगी नहीं बल्कि शुद्ध बनाना है। इनसे कितनी ही बीमारियां भी दूर होती हैं।

९. पर इन व्यायामों को भी जीवन का व्यवसाय बनाना और उनसे सिद्धियां मिलने की जो बात कही जाती है, उसके पीछे पड़ना, इनका दुरु-पयोग है। शरीर में संचित अशुद्धियों को जैसे मल-मूत्र द्वारा निकाल डाला जाता है, वैसे ही उनकी अन्य अशुद्धियों को आसन और प्राणायाम द्वारा निकाल डालना, यही इन व्यायामों का प्रयोजन है।

खंड ११ : : शिक्षा

१

शिक्षा का ध्येय

१. सा विद्या या विमुक्तये। जो मुक्ति के योग्य बनाये वह विद्या; बाकी सब अविद्या।

२. अतः जो चित्त की शुद्धि न करे, मन और इंद्रियों को वश में रखना न सिखाये, निर्भयता और स्वावलंबन पैदा न करे, निर्वाह का साधन न बताये और गुलामी से छूटने और आज़ाद न रहने का हौसला और सामर्थ्य न उपजाये, उस शिक्षा में चाहे जितनी जानकारी का खजाना, तार्किक कुशलता और भाषा-पांडित्य मौजूद हो, वह शिक्षा नहीं है या अधूरी शिक्षा है।

२

अराष्ट्रीय शिक्षा

१. ८०-८५ फीसदी लोगों के जीवन की आवश्यकताओं का विचार करने के बजाय मुट्ठीभर मनुष्यों की आवश्यकताओं अथवा राज्य के थोड़े-से विभागों की आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखकर दी जानेवाली शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा तो हो सकती ही नहीं, बल्कि गलत शिक्षा होने से अविद्या ही है।

२. ऐसी शिक्षा ने शिक्षित और अशिक्षित के बीच गहरी खाई खोद दी है और विद्वानों को जनता का अगुआ, पथ-प्रदर्शक और प्रतिनिधि बनाने के बजाय जनता से विलग हो जानेवाला, जनता के जीवन और भावनाओं को न समझनेवाला, उसमें दिलचस्पी न ले सकनेवाला और उसका पक्ष उपस्थित करने के अयोग्य बना दिया है।

३. इस शिक्षा ने अपना महत्व बढ़ाने के लिए भवनों, साधनों, पुस्तकों, मृगतृष्णा की भांति दूर से लुभावने लगनेवाले लाभों की आशाओं और चटक-मटक वगैरह का आडंबर रचकर जनता को कर्ज में डुबो दिया है।

४. इस शिक्षा ने लोगों के अंदर अनेक वहम पैदा कर दिये हैं, जैसे अक्षर-ज्ञान और शिक्षा एक ही है और उनके बिना शिक्षा हो ही नहीं सकती; शिक्षित मनुष्य का मजदूर का-सा जीवन बिताना तो अपनी शिक्षा को लजाना समझा जायगा; 'शिक्षित' का मतलब है अंग्रेजी पढ़ा हुआ आदि।

५. इस शिक्षा ने जनता को धर्म से विमुख किया है और अनेक पीढ़ियों से पोषित धर्म तथा संयम के संस्कारों को मिटा डालने का ही काम किया है।

६. चित्त-शुद्धि के महत्व के अंग—ईश्वर, गुरु, बड़े-बूढ़ों में भक्ति, नीतिमय जीवन का आग्रह और संयम तथा तप में श्रद्धा—इन सभी विषयों में आधुनिक शिक्षा ने पढ़े-लिखों को सशंक और नास्तिक बना देने की दिशा में यत्न किया है।

७. यदि पूर्वोक्त परिणामों से कुछ लोग बच गये हैं, तो वे शिक्षा के कारण नहीं, बल्कि वैसी शिक्षा पाकर भी घर के उच्च वातावरण की बदौलत बचे हैं।

८. इस शिक्षा ने भोग और संपत्ति में इतनी श्रद्धा उत्पन्न करदी है कि उनके कम होने के डर से ही शिक्षित पस्तहिम्मत हो जाते हैं और स्पष्ट रूप से दिखाई देनेवाले धर्म के आचरण में असमर्थता प्रकट करते हैं।

३

राष्ट्रीय शिक्षा

१. हिंदुस्तान की राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था हिंदुस्तान के ८० से ८५ फीसदी लोगों को किस प्रकार का जीवन बिताना पड़ता है, इस विचार को सामने रखकर होनी चाहिए।

२. हिंदुस्तान के ८५ फीसदी लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से खेती से गुजर करते हैं; इसलिए उनकी शिक्षा की योजना उन्हें अच्छे किसान बना देने और खेती के आस-पास चलनेवाले धंधों की जानकारी करा देने की दृष्टि से होनी चाहिए।

३. शिक्षा से निर्वाह का प्रश्न हल होना चाहिए, अतः उद्योग-धंधों की शिक्षा शिक्षण का प्रधान अंग होना चाहिए।

४. जनता के निर्वाह का मसला हल किये विना संस्कार (Culture) या ईश्वर का ज्ञान देनेवाली शिक्षा की बात करना बेकार है।

५. ऐसी शिक्षा खेत में या देहात में ही दी जा सकती है—कसबों या शहरों में यह शिक्षा नहीं मिल सकती।

६. इसके सिवा पढ़ना-लिखना आने के पहले शिक्षा-प्राप्ति हो ही न सकती हो, तो हिंदुस्तान की जनता को शिक्षित बनाने में कई दशक लगेंगे।

७. पर अक्षर-ज्ञान (पढ़ने-लिखने के ज्ञान) का विरोध न करते हुए भी यह कहना जरूरी है कि शिक्षा उसके बिना भी दी जा सकती है और दी जानी चाहिए।

८. लिखने-पढ़ने का ज्ञान न होते हुए भी मनुष्य गिनना सीख सकता है, अपने उद्योग-धंधे-संबंधी प्राथमिक विज्ञान प्राप्त कर सकता है, साहित्य समझ सकता है, सुन सकता है और कंठ कर सकता है और शक्तिशाली हो, तो रचना भी कर सकता है। इसके सिवा उसमें सत्य की लगन हो, तो ईश्वर का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है।

९. हमारे सैकड़ों पढ़े-लिखों का ज्ञान-भंडार—अनेक पोथियों के पन्ने उलटने के बाद भी—इतना अल्प होता है कि इतनी पूंजी प्राप्त करने के लिए लाखों लोगों को लिखना-पढ़ना सीखने की माथापच्ची में पड़ने की सलाह देने के बजाय यदि वे अपना ज्ञान उन्हें जबानी दें, तो देखेंगे कि बहुत वर्षों की पढ़ाई वे थोड़े ही वक्त में जनता तक पहुंचा सकते हैं।

१०. इसके सिवा भारतवर्ग की शिक्षा की पद्धति बिना खर्च की ही होनी चाहिए।

११. अतः थोड़े वर्षों में यह शिक्षा पूरी हो जाने का मोह हमें न होना चाहिए। उद्योग करते और आजीविका प्राप्त करते हुए यह शिक्षा जन्म-भर चल सकती है।

१२. यह शिक्षा पुस्तकों पर कम-से-कम अवलंबित होगी। इसका यह अर्थ नहीं कि पुस्तकें रहें ही नहीं, किंतु वाचन की अपेक्षा वह श्रवण, दर्शन और क्रिया के द्वारा अधिक दी जानी चाहिए।

४

उद्योग द्वारा शिक्षा

१. शिक्षा का आरंभ अक्षर-ज्ञान से और लेखन-वाचन द्वारा नहीं, बल्कि उद्योग से और उसके द्वारा होना चाहिए।

२. उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिससे निर्वाह हो सके, उससे उत्पन्न होनेवाली वस्तु जनता के जीवन में उपयोगी हो।

३. ऐसी वस्तु का उत्पादन करते हुए उस उद्योग के साथ संबंधित साहित्य, गणित, विज्ञान, चित्रकारी, इतिहास, भूगोल आदि आवश्यक विज्ञान का जितना हो सके, उतना ज्ञान बालक को करा देना चाहिए। इस प्रकार उद्योग को शिक्षा का केवल एक विषय नहीं, बल्कि लगभग सारी शिक्षा का अर्थात् मानव-विकास का वाहन बनना चाहिए।

४. इस तरह उद्योग द्वारा शिक्षा देनेवाली पाठशाला जबतक शिक्षकों का खर्च न निकाल सके, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उस पाठशाला तथा उसके विद्यार्थियों ने अच्छी प्रगति कर ली।

५. खेती और वस्त्र ये दो भारत के राष्ट्रीय उद्योग हैं। अतः प्रत्येक पाठशाला में इन दोनों धंधों की प्रारंभिक शिक्षा का प्रबंध होना चाहिए।

६ इन दोनों उद्योगों का प्रारंभिक ज्ञान सबके लिए अनिवार्य होना चाहिए, क्योंकि इनके द्वारा जिसे जीविका नहीं कमानी है, उसके लिए भी पूर्ण शिक्षा की दृष्टि से इनका ज्ञान आवश्यक है।

७. बढ़ई, लुहार, रंगरेज आदि के धंधे खेती और वस्त्र-उद्योग के सहायक

रूप में और उनके सहारे चलते हैं। इसलिए हरएक किसान और बुनकर को इनका भी सामान्य ज्ञान करा देना चाहिए।

८. गन्ने, नील, तिलहन आदि की खेती तथा आस-पास के जंगलों में होनेवाली वनस्पतियों से अनेक प्रकार के उद्योगों का पोषण हो सकता है। इन उद्योगों की खोज करके भी उनकी शिक्षा उन स्थानों में देनी चाहिए।

५

बाल-शिक्षा

१. बालकों की शिक्षा का श्रीगणेश अक्षर-ज्ञान से नहीं, बल्कि सफाई की शिक्षा से होना चाहिए।

२. शिक्षक (बल्कि शिक्षिका) को चाहिए कि बालक को कक्का-कक्की सिखाने की जल्दी न करे, बल्कि उसे अपने हाथ, पांव, नाक, आंख, दांत, नाखून आदि को साफ रखना सिखाये। उसे नहाना, कपड़े धोना तथा रूमाल से नाक वगैरह पोंछना सिखाये।

३. इसके बाद वह बच्चे के हाथ में तकली और चरखा दे और कातने तक की सब क्रियाएं धीरज से बताये और उनकी मश्क करा दे।

४. इसके सिवाय जबतक लिखना-पढ़ना न आये, तबतक वह उसे अज्ञान नहीं बनाये रखे; बल्कि कहानियों द्वारा इतिहास-भूगोल का ज्ञान दे, कथाओं और भजनों द्वारा धर्म का ज्ञान दे, प्रत्यक्ष अवलोकन से पदार्थ-विज्ञान, वनस्पतियों और भूमि तथा आकाश का ज्ञान दे, एवं प्रत्यक्ष पदार्थों से गणित में प्रवेश कराये और इस तरह लिखना-पढ़ना आने के पहले उसे तीसरी-चौथी पोथी तक का ज्ञान करा दे।

५. इसके सिवा अक्षर सिखाने से पहले उसे चित्र और अक्षरों की आकृतियां बनाना तथा अपने विचारों को चित्रों के द्वारा प्रदर्शित करना सिखाये।

६. अनेक भजन, श्लोक, कविताएं उसे कंठाग्र कराके उच्चार-शुद्धि करा ले और नाना प्रकार का साहित्य उसे कंठ करा दे।

७. फिर वह उसे सुंदर आकृतिवाले और स्पष्ट पढ़े जा सकनेवाले अक्षर लिखना सिखाये। इस प्रकार अक्षर लिखने में की हुई देर से नुकसान न होकर बच्चों की शक्ति बढ़ी मालूम होगी।

६

ग्रामवासी की शिक्षा

१. इस वहम को दिमाग से निकाल डालने की जरूरत है कि देहात के बड़ी उम्र के सभी मनुष्य अक्षर-ज्ञान पाकर ही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

२. जिनमें शक्ति और उत्साह हो, उन्हें अक्षर-ज्ञान कराने का प्रयत्न कराना इष्ट है। उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए और उनके लिए पूरी सुविधा भी करनी चाहिए।

३. पर बहुत से आदमियों को बड़ी उम्र में लिखना-पढ़ना सीखने में रस आना कठिन है। अतः ऐसा न होना चाहिए कि ऐसे लोग प्रौढ़-पाठशालाओं में आ ही न सकें।

४. देहात का पुस्तक-भंडार सीमित ही रहेगा और देहातियों की पुस्तक खरीदने की शक्ति तो उससे भी कम होगी; अतः थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना आ जाने से अपने-आप ज्ञान बढ़ा लेने की बहुत शक्ति आ जाती हो, ऐसा अनुभव नहीं होता।

५. अतः जो पढ़े हैं, वे दूसरों को पढ़ाकर सिखायें और समझायें तथा उनके लिए व्याख्यान वगैरह की व्यवस्था करें, तो देहात में पढ़े के लिए अपना ज्ञान बढ़ाने की जितनी संभावना है, उतनी बे-पढ़े के लिए भी हो सकती है।

६. पढ़ना-लिखना आने से समझने की शक्ति बढ़ती है, ऐसी बात नहीं है। अक्सर बुद्धिमान देहाती सुनकर जो ज्ञान पा लेता है, वह पढ़े हुए आदमी की अपेक्षा अधिक होता है।

७. ज्ञान का मूल स्रोत पुस्तकों में नहीं है, बल्कि अवलोकन, अनुभव, विचार-शक्ति में है—इसे भूल जाने से हम पुस्तक के ज्ञान को बहुत महत्व देते हैं।

७

स्त्री-शिक्षा

१. पुरुष की भांति स्त्री को भी शिक्षा का पूरा अधिकार है और पुरुष को जैसी शिक्षा पाने की अनुकूलता हो, वैसी स्त्री को भी होनी चाहिए।

२. पुरुष की अपेक्षा स्त्री का दर्जा और अधिकार कम है, इस संस्कार को निर्मूल कर देना चाहिए।

३. पुरुष-जैसी शिक्षा पाने में स्त्री के लिए रुकावट नहीं होनी चाहिए; तथापि ९० फीसदी स्त्रियों को मातृपद प्राप्त करना और घर-गृहस्थी के काम में पड़ना होगा, इसका खयाल रखकर स्त्री-शिक्षा की योजना होनी चाहिए।

४. अर्थात् जैसे जिस पुरुष को किसान या बुनकर न बनना हो, उसे भी ८५ फीसदी लोगों के धंधे का प्राथमिक ज्ञान होना चाहिए, वैसे ही जिस स्त्री को मातृपद प्राप्त न करना या गृहस्थी न चलानी हो, उसे भी मातृपद तथा गृहणी-कर्म से संबंधित शिक्षा मिलने की जरूरत है।

८

धार्मिक शिक्षा

१. धार्मिक शिक्षा से रहित शिक्षा शिक्षा नाम की अधिकारिणी ही नहीं समझी जा सकती।

२. प्रत्येक बालक को, जिस धर्म में वह जन्मा हो, उस धर्म के मुख्य ग्रंथों, महापुरुष और संतों तथा उस धर्म के मंतव्यों का श्रद्धापूर्वक ज्ञान करा देना चाहिए।

३. यहां धर्म का अर्थ वैदिक, इस्लाम, ईसाई, यहूदी, पारसी, सिख, ज़ैन, बौद्ध इत्यादि मुख्य धर्म ही समझना चाहिए; उनके संप्रदाय या उपशाखाओं का समावेश इनमें नहीं होता। संप्रदायों और उपशाखाओं के संस्कार तो उनकी खास संस्थाएं ही दे सकती हैं।

४. बालक को उसके अपने धर्म के अलावा दूसरे महान धर्मों का भी समभावपूर्वक सामान्य ज्ञान देने का प्रयत्न करना चाहिए।

५. मनुष्य को जैसे शरीर के लिए आहार, श्रम और आराम की जरूरत है, वैसे ही उसके चित्त की उन्नति के लिए धर्म के आलंबन की आवश्यकता है। प्रत्येक धर्म ऐसे आलंबन की पूर्ति करने में समर्थ है, इसलिए किसी-को धर्म बदलने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक धर्म मनुष्य-प्रचारित है इससे उसमें दोष हैं और पैदा भी होते रहते हैं और उसे बारंबार शुद्ध करने की जरूरत होती है; फिर भी कोई धर्म सर्वथा त्याज्य नहीं होता। धार्मिक शिक्षा के फलस्वरूप यह संस्कार उत्पन्न हो, यह दृष्टि हमें रखनी चाहिए।

६. भिन्न-भिन्न मानव-समाजों में भिन्न-भिन्न धर्मों की उत्पत्ति होने के कारण उनमें समाज-रचना, विधि-विधान तथा रूढ़ियों के परस्पर-विरोधी दिखाई देनेवाले भेद रहते हैं। फिरभी प्रत्येक धर्म में इतनी बातें सामान्य रूप से मिलती हैं— (१) सत्यरूपी परमेश्वर की खोज और उसका आश्रय, (२) नीति-परायण तथा संयमी जीवन, (३) दूसरों के लिए कष्ट-सहन तथा स्वार्थ की अपेक्षा दूसरों का हित अधिक देखने की वृत्ति। इन संस्कारों का निरंतर बड़े क्षेत्र में विकास होना धार्मिक जीवन का विकास है। अतः धार्मिक शिक्षा में इन अंगों का महत्व समझाकर बाह्य भेदों को गौण समझना सिखाया जाना चाहिए।

९

शिक्षा का वाहन

१. उच्च-से-उच्च शिक्षा तक के लिए स्व-भाषा ही शिक्षा का वाहन या माध्यम होना चाहिए।

२. अंग्रेजी-जैसी अति विजातीय भाषा को शिक्षा का वाहन बना देने से शिक्षा के लिए किया गया और किया जानेवाला बहुतेरा श्रम व्यर्थ गया और जा रहा है।

३. अंग्रेजी के ज्ञान के बिना उच्च शिक्षा प्राप्त की जा सकती ही नहीं,

यह स्थिति दयनीय और लज्जाजनक है।

४. शिक्षा घर और गांवों तक नहीं पहुंच सकी, इसका एक कारण यह भी है कि वह स्व-भाषा के द्वारा नहीं मिली।

५. अंग्रेजी को शिक्षा का वाहन वना दिये जाने से देश की भाषाओं की वृद्धि नहीं हुई और शिक्षितों की स्व-भाषा-सेवा का प्रायः इतना ही फल हुआ है कि अंग्रेजी में किये हुए विचार संस्कृत या फारसी में अनुवाद करके स्व-भाषा में प्रत्यय लगाकर काम में लाये जायं। इससे यह साहित्य आम जनता में अधिक नहीं पहुंच सका और न उसपर असर डाल सका है।

६. पर-भाषा के वाहन बनने का दुष्परिणाम हुआ है कि बहुतेरे शिक्षित जन विचार भी अंग्रेजी में ही कर सकते हैं, स्व-भाषा में कर ही नहीं सकते। यह स्थिति खेद-जनक है।

७. गुजरात विद्यापीठ जैसी छोटी-सी संस्था में भी गुजराती को शिक्षा का वाहन वना देने से गुजराती भाषा की कितनी समृद्धि हुई है, पिछले कुछ वर्षों का साहित्य का इतिहास इसका निर्देशक है।

८. लोकमान्य के मराठी भाषा के द्वारा ही अपने प्रांत की सेवा करने से उस भाषा की जो समृद्धि हुई है, वह भी इसी वात की गवाही देती है।

१०

अंग्रेजी भाषा

१. अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना शिक्षा अधूरी रहती है, इस वहम से निकलने की जरूरत है।

२. अंग्रेजी पढ़े लोगों का कर्तव्य है कि अंग्रेजी भाषा के विशाल साहित्य से सुंदर रत्न चुन-चुनकर अपनी-अपनी भाषा में लायें। इन रत्नों का आनंद लेने के लिए लाखों को अंग्रेजी भाषा सीखने के झंझट में पड़ने को कहना निर्दयता है।

३. काम-काज में अंग्रेजी भापा की जरूरत पड़ती है, यह सही है; पर ऐसे काम-काज तो मुट्ठी-भर आदमियों को ही करने पड़ते हैं। फिर उनमें

से बहुत-से काम तो अकारण अथवा हमारी गुलामी की वजह से ही अंग्रेजी में होते हैं। थोड़े-से अंग्रेज अधिकारियों को देशी भाषा सीखने की मेहनत से बचाने के लिए सारी जनता पर अंग्रेजी सीखने का बोझ लादना, यह भी देश की ओर से ब्रिटिश राज्य को दिया जानेवाला एक प्रकार का भारी कर ही है।

४. अंग्रेजी भाषा को अनिवार्य बनाकर ब्रिटिश राज्य ने अपनी जड़ मजबूत की है और भाषा की गुलामी स्वीकार कराके जनता को शरीर से ही नहीं, मन से भी गुलाम बना दिया है। हथियार छीन लेने से जनता को जो हानि हुई है, उतनी ही या उससे रत्ती भर अधिक ही हानि उसपर अंग्रेजी को लादने से हुई है।

५. अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के बिना देश के महत्व के कामों में भाग नहीं लिया जा सकता, इस तरह उसकी शिक्षा जो अनिवार्य-सी कर दी गई है, वह शिक्षा शास्त्र तथा नीति की दृष्टि से अत्यंत हानिकर है।

६. यूरोप की विद्या सीखने के लिए यूरोप की किसी भाषा का ज्ञान आवश्यक माना जाय, तो उतने उपयोग के लिए जितना ज्ञान जरूरी है, उसके लिए आज जितना समय और साल देने पड़ते हैं, उतने न देने पड़ेंगे। इस भाषा-ज्ञान का लक्ष्य तो उस भाषा को समझ लेने भर सीख लेना होगा। आज तो अंग्रेजी भाषा के लेखन और उच्चारण पर अधिकार करने के लिए इतना प्रयास किया जाता है, मानो वह अपनी मातृभाषा या उससे भी अधिक महत्व रखनेवाली वस्तु हो और अनेक वर्षों तक मेहनत करने के बावजूद अधिकांश तो टूटी-फूटी अंग्रेजी लिखने-बोलने लायक ही अधिकार प्राप्त कर पाते हैं।

७. हम स्व-भाषा या पड़ोसी प्रांत की भाषा को शुद्ध बोल-लिख न सकें तो न शर्मायें और अंग्रेजी भाषा में होनेवाली भूलों से शर्मायें अथवा वैसी भूलें करनेवालों का मजाक उड़ायें, इससे पता चलता है कि उस भाषा ने हमपर कैसा जादू डाल रखा है। वास्तव में अंग्रेजी के अत्यंत विजातीय भाषा होने के कारण उसके उच्चारण और लेखन में हमसे गलतियां हों,

तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

८. पर इस जादू के कारण हम शिक्षाकाल के आधे या बहुत-से बरस इस भाषा पर अधिकार पाने के पीछे बरबाद कर देते हैं। विद्यार्थी के कितने ही श्रम और समय का इस प्रकार अपव्यय होता है।

११

भाषा-ज्ञान

१. व्यवस्थित शिक्षा में भाषा के विषयों में पहला स्थान स्व-भाषा को मिलना चाहिए। स्व-भाषा में शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलना आये बिना अंग्रेजी-जैसी अति विजातीय भाषा की शिक्षा आरंभ होनी ही न चाहिए।

२. स्व-भाषा के साथ दूसरा स्थान राष्ट्रभाषा यानी हिंदुस्तानी का होना चाहिए। इसके विषय में आगे अधिक कहा जायगा।

३. तीसरा स्थान मूल भाषा को मिलना चाहिए। मूल भाषा का अर्थ हिंदू विद्यार्थियों के लिए संस्कृत, मुसलमान विद्यार्थियों के लिए अरबी या फारसी, पारसियों के लिए पहलवी इत्यादि। स्व-भाषा और स्व-धर्म की जड़ इन भाषाओं में होने के कारण इनके ज्ञान का बहुत महत्व है और सम्यक् शिक्षा-प्राप्त मनुष्य को इनका साधारणतः अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

४. भाषाएं सीखने की जिनमें शक्ति और रुचि है, उनके लिए हिंदुस्तान की कुछ प्रांतीय भाषाएं सीखना भी आवश्यक है। खास करके द्राविड़ी भाषाओं में से एकाध के सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। संस्कृतमूलक भाषाओं में से तो एकाध आनी ही चाहिए।

५. शिक्षा की दृष्टि से अंग्रेजी का नंबर इसके बाद आता है। पर व्यावहारिक दृष्टि से उसका मूल्य अधिक आंका गया है; फिर भी उसका स्थान स्व-भाषा, राष्ट्रभाषा और मूल भाषा के बाद ही होना चाहिए।

१२

राष्ट्रभाषा

१. हिंदुस्तानी—अर्थात् हिंदी और उर्दू दोनों की खिचड़ी—दिल्ली

लखनऊ, प्रयाग जैसे शहरों में आम लोगों में बोली जानेवाली भाषा हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा है। दक्षिण भारत की जनता के सिवा यह साधारणतः सारे देश में सैंकड़ों वर्षों से बरती जा रही है।

२. हर शिक्षित मनुष्य को यह भाषा शुद्ध रूप में बोलना, लिखना और पढ़ना आना चाहिए।

३. यह भाषा नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाती है; दोनों लिपियों का ज्ञान हरएक को होना इष्ट है।

४. राष्ट्रभाषा सीखने की सलाह प्रांतीय भाषा को गौण बनाने के लिए नहीं दी जाती, उसकी आवश्यकता तो सार्वदेशिक व्यवहार के लिए है। हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा का पद नया नहीं मिला है, बल्कि जो बात व्यवहार में है, उसीको स्वीकार किया गया है।

१३

इतिहास

१. इतिहास की शिक्षा गलत दृष्टिबिंदु से दी जाती है। अतः इतिहास के रूप में पढ़ाई जानेवाली घटनाएं भले ही सच हों, पर जन-समाज की भूतकाल की स्थिति के बारे में वे गलत धारणा उत्पन्न कराती हैं।

२. राजवंशों की उथल-पुथल और युद्धों के वर्णन राष्ट्र का इतिहास नहीं हैं। हिंदुस्तान-जैसे राष्ट्र का तो हो ही नहीं सकते। यह तो राष्ट्र-शरीर पर कभी-कभी उठ आनेवाले फफोलों का-सा इतिहास माना जायगा। राष्ट्र-जीवन में युद्ध नित्य-जीवन नहीं है, किंतु उल्कापात है। उसके नित्य-जीवन में समझौता, भाईचारा, एक-दूसरे के लिए कष्टसहन और सहयोग होता है। उसके द्वारा होनेवाली प्रगति का वर्णन इतिहास बहुत गौण रूप में करता है और इस कारण वह भूतकाल के संबंध में भ्रमात्मक चित्र प्रस्तुत करता है।

३. इस रीति से इतिहास की जांच की जाय, तो उसके नित्य-व्यवहार में हिंसामय कलह की अपेक्षा अहिंसामय सत्याग्रह का प्रयोग अधिक हुआ दिखाई देगा।

४. पर इतिहास के शिक्षण में इतना दोष नहीं है। आजकल तो इतिहास की शिक्षा जान-बूझकर इस तरह दी जाती है, जिससे गलत खयाल पैदा हो। इसीलिए अंग्रेजों के आने के पहले के काल का बहुत बुरा चित्र खींचा जाता है और अंग्रेजी राज्य के प्रति जनता मोह-मूर्छा में पड़ी रहे, इसकी बचपन से ही कोशिश की जाती है। इसमें असत्य ही नहीं, बेईमानी भी है।

१४

शिक्षा के अन्य विषय

१. संगीत की शिक्षा पर हिंदुस्तान में बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। संगीत चित्त के भावों को जाग्रत करने का बहुत बड़ा साधन है और इस प्रकार सात्विक संगीत का आध्यात्मिक विकास में महत्व का स्थान है। बालक की इस महत्वपूर्ण प्राकृतिक शक्ति का सात्विक रीति से विकास करना चाहिए।

२. कर्मेंद्रियों के और समूहों के कार्य में कवायद के ज्ञान के अभाववश अव्यवस्था, शक्ति का आवश्यकता से अधिक व्यय, गड़बड़ और शोर-गुल तथा बहुत मौकों पर जान-माल का नुकसान भी होता है। कवायद के ढंग से ही उठने, चलने और काम करने की और चार आदमियों के एकत्र होते ही कवायदी ढंग से व्यवस्थित होकर काम करने लग जाने की आदत पड़ जानी चाहिए। अतः कवायद की तालीम की ओर पाठशालाओं में भली-भांति ध्यान दिया जाना चाहिए और बड़ी उम्र के लोगों को भी इसकी तालीम देनी चाहिए।

३. शस्त्र का त्याग हिंदुस्तान में जबरन कराया गया है, हिंदुस्तान की जनता ने उसे अपनी इच्छा से नहीं किया है। शस्त्र धारण करने और सैनिक शिक्षा पाने का जनता को अधिकार है। इसलिए इसकी तालीम भी शिक्षा का आवश्यक विषय है।

१५

शिक्षक

१. शिक्षक का चरित्र चाहे जैसा हो, उसे केवल अपने विषय में प्रवीण

होना चाहिए—यह विचार दोषपूर्ण है।

२. चरित्रहीन पर प्रवीण शिक्षक से पढ़कर विद्यार्थी किसी विषय में प्रवीणता प्राप्त करे, इससे यह हजार गुणा अच्छा है कि वह चरित्रवान किंतु कम प्रवीण शिक्षक की शिष्यता स्वीकार कर थोड़ी ही विद्या प्राप्त करे।

३. जो शिक्षक अपना विषय पढ़ाने की जिम्मेदारी समझता है, पर विद्यार्थी के चरित्र के विषय में अपनी जिम्मेदारी नहीं मानता, उसे शिक्षक कह ही नहीं सकते।

४. आदर्श शिक्षक को विद्यार्थी की पढ़ाई में ही नहीं, बल्कि उसके सारे जीवन में दिलचस्पी लेना और उसके हृदय में प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिए।

५. ऐसा शिक्षक विद्यार्थी को भयानक या यमराज जैसा नहीं लगेगा, बल्कि पूज्य होते हुए भी माता से अधिक निकट मालूम होगा।

६. शिक्षक को अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए और अपने विषय में ताजा-से-ताजा जानकारी प्राप्त करके और तैयार होकर ही क्लास लेना चाहिए।

७. अर्थात् शिक्षक को विद्यार्थी से भी अधिक अच्छा विद्यार्थी जीवन बिताना और अध्ययनरत रहना चाहिए।

८. पूरी तैयारी किये बिना क्लास लेनेवाला शिक्षक विद्यार्थी का अमूल्य समय बरबाद करता है।

९. शिक्षक को पढ़ाने की अच्छी-से-अच्छी रीति खोजते ही रहना चाहिए और प्रत्येक विद्यार्थी की विशेषता को समझकर ऐसी विधि ढूंढ निकालनी चाहिए, जिससे वह अपने विषय को समझने और उसमें रस लेने लगे। विद्यार्थियों को शंका का अवसर देकर उसका समाधान करना चाहिए।

१०. मारने, गाली देने, तिरस्कार करने या और कोई सजा देने की शिक्षकों को मनाही होनी चाहिए।

११. अपना काम भलीभांति करने की इच्छा रखनेवाला शिक्षक बहुत बड़े वर्गों पर ध्यान न दे सकेगा, यह स्पष्ट है।

१२. सैंकड़ों विद्यार्थियों की पाठशालाएं भी इष्ट नहीं हैं।

१६

विद्यार्थी

१. विद्या की शोभा विनय से है, इतना ही नहीं विनय के बिना विद्या आती भी नहीं।

२. विद्यार्थी को शिक्षक के प्रति गुरुभाव रखना, अर्थात् श्रद्धा, विनय और सेवा-भाव से व्यवहार करना चाहिए। शिक्षक जो कहता है मेरे हित के लिए कहता है, यह श्रद्धा उसे रखनी चाहिए।

३. शिक्षक ऐसी श्रद्धा के योग्य नहीं है, यह निश्चय हो जाय—तो विनय को न छोड़कर शिक्षक का ही त्याग करना चाहिए।

४. विद्यार्थी को शिक्षक से प्रश्न करके अपनी शंकाएं मिटानी चाहिए।

५. विद्यार्थी को ऐसी अधीरता न दिखानी चाहिए मानो शिक्षक के पेट से वह सारा ज्ञान निकाल लेना चाहता है। जिसने विनय से शिक्षक का मन प्रसन्न किया है, उसे अपना सारा ज्ञान देने की शिक्षक में ही अधीरता उत्पन्न हो जाती है। जबतक शिक्षक का मन ऐसा नहीं हो जाता, तबतक विद्यार्थी को धीरज रखना चाहिए।

६. पर शिक्षक जब ज्ञान की वृष्टि करने लगे, तब विद्यार्थी को गाफिल रहकर मौका गंवाना नहीं चाहिए।

१७

छात्रालय

१. छात्रालय के मानी विद्यार्थी के रहने-खाने का सुभीता कर देने-वाला वासा नहीं है।

२. छात्रालय का महत्व पाठशाला से भी अधिक है। यह तो माता-पिता के घर की जगह लेनेवाला ही न होना चाहिए, बल्कि माता-पिता के घर में जो संस्कार नहीं मिल सकते, उन्हें देने की अभिलाषा उसे रखनी चाहिए।

३. अतः छात्रालय का गृहपति पाठशाला के आचार्य या वर्ग-शिक्षक की अपेक्षा भी अधिक योग्य व्यक्ति होना चाहिए। उसमें शिक्षक के सिवा माता-पिता के गुण भी होने चाहिएं।

४. उसकी निगाह विद्यार्थियों के हरएक काम और संग-साथ पर पड़ती रहनी चाहिए।

५. लड़के जहां इकट्ठे रहते हैं, वहां प्रकट और गुप्त दोष दिखाई देते रहते हैं। गृहपति को इनके विषय में बहुत चौकन्ना रहना चाहिए।

६. छात्रालय में पंक्तिभेद न होना चाहिए।

७. जहांतक हो सके, छात्रालय में नौकर-चाकर न होने चाहिएं और विद्यार्थियों को अपने निजी काम तो खुद ही करने चाहिएं।

८. छात्रालय का खर्च उतना ही होना चाहिए, जितना एक गरीब देश से चल सके।

९. विद्यार्थियों को नियमित रूप से मिष्टान्न मिलना ही चाहिए, यह रिवाज अच्छा नहीं है।

१०. छात्रालय को सादगी, मितव्ययिता और संस्कारिता का नमूना होना चाहिए। छात्रालय में जाकर विद्यार्थी अधिक छैल-छबीला, उड़ाऊ और उच्छृंखल हो जाय, तो कहना चाहिए कि वह छात्रालय सफल नहीं हो रहा है।

१८

शिक्षा का खर्च

१. शिक्षा का बहुत खर्चीली हो जाना यह बताता है कि शिक्षा की दिशा गलत है।

२. शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि शिक्षक और विद्यार्थी अपने अन्न-वस्त्र का खर्च तो अपनी मजदूरी से ही निकाल ले सकें। सिर्फ मकान, साधनों आदि के खर्च के लिए ही जनता से पैसा मांगना पड़े।

३. आज यह नहीं हो सकता, क्योंकि शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को

मेहनत की यथेष्ट शिक्षा नहीं मिली है और न आदत है। पर प्रयत्न इस दिशा में होना चाहिए—इसमें शंका नहीं।

४. बच्चों को जितनी शिक्षा अपने घर में ही मिल सकती है, उसे देने के लिए पाठशाला को न फंसना चाहिए। अतः मां-बाप को संस्कारी बना देने से शिक्षा का खर्च घटेगा।

५. जिसे प्राथमिक शिक्षा कहते हैं, वह इस तरह अधिकांश में घर में ही मिल जानी चाहिए।

१६

उपसंहार

[पूज्य गांधीजी ने स्वलिखित 'सत्याग्रहाश्रम का इतिहास' के शिक्षा-संबंधी प्रकरण में अपने मत का जिस रूप में उपसंहार किया है, वह थोड़ा पुनरुक्ति दोष स्वीकार करके भी यहां दे देना उचित जान पड़ता है।

—लेखक]

शिक्षा के विषय में मेरे विचार इस प्रकार हैं :

प्रथम काल

१. बालक और बालिकाओं को साथ-साथ शिक्षा देनी चाहिए। बाल्यावस्था आठ वर्ष तक समझनी चाहिए।

२. उनका समय ज्यादातर शारीरिक काम में लगवाना चाहिए और वह काम भी शिक्षक की देख-रेख में होना चाहिए। शारीरिक काम शिक्षा का एक विभाग समझा जाना चाहिए।

३. प्रत्येक बालक-बालिका का झुकाव परखकर उसे काम देना चाहिए।

४. हरएक काम लेते समय उसका कारण उन्हें बता देना चाहिए।

५. बच्चा समझने लगे, तभी से उसे साधारण ज्ञान दिया जाना चाहिए। यह ज्ञान अक्षर-ज्ञान से पहले शुरू होना चाहिए।

६. अक्षर-ज्ञान को लेखन (चित्र)-कला का विभाग मानकर पहले

बच्चे को रेखागणित की आकृतियां बनाना सिखाना चाहिए और जब अंगुलियों पर उसका काबू जम जाय, तब उसे अक्षर उरेहना सिखाना चाहिए। अर्थात् उसे पहले से ही शुद्ध अक्षर लिखना सिखाना चाहिए।

७. लिखने के पहले पढ़ना सिखाना चाहिए। यानी वह अक्षरों को चित्र समझकर उन्हें पहचानना सीखे और फिर चित्र बनाये।

८. इस प्रकार शिक्षक से जबानी ज्ञान पानेवाले बच्चे को आठ वर्ष के अंदर अपनी शक्ति के हिसाब से बहुत अधिक ज्ञान मिल जाना चाहिए।

९. बच्चे को जबरदस्ती कुछ भी न सिखाना चाहिए।

१०. जो कुछ वह सीखे, उसमें उसे रस आना जरूरी है।

११. बच्चे को शिक्षा खेल जैसी लगनी चाहिए। खेल भी शिक्षा का आवश्यक अंग है।

१२. बच्चों की सारी शिक्षा मातृभाषा के द्वारा होनी चाहिए।

१३. बच्चों को हिंदी-उर्दू का ज्ञान राष्ट्रभाषा के रूप में दिया जाना चाहिए। उसका आरंभ अक्षर-ज्ञान से पहले होना चाहिए।

१४. धार्मिक शिक्षा आवश्यक समझी जानी चाहिए। वह बच्चे को पुस्तक के द्वारा नहीं, बल्कि शिक्षक के आचरण और उसके मुख से मिलनी चाहिए।

दूसरा काल

१५. नौ से सोलह वर्ष तक का दूसरा काल है।

१६. दूसरे काल में भी अंत तक बालक-बालिकाओं की शिक्षा साथ-साथ हो, तो अच्छा है।

१७. दूसरे काल में हिंदू लड़कों को संस्कृत की शिक्षा मिलनी चाहिए, मुसलमान को अरबी की।

१८. इस काल में भी शारीरिक काम तो चलना चाहिए। अक्षर-ज्ञान का समय आवश्कतानुसार बढ़ा देना चाहिए।

१९. इस काल में बालक के मां-बाप का धंधा यदि निश्चित हो चुका जान पड़े, तो उसे उस धंधे का ज्ञान मिलना चाहिए और उसे इस तरह

तैयार करना चाहिए, जिससे वह पैतृक धंधे द्वारा अपनी रोजी कमाना पसंद करे। यह नियम लड़की पर लागू नहीं होता।

२०. सोलह वर्ष की उम्र तक बालक-बालिका को दुनिया के इतिहास, भूगोल और वनस्पति-शास्त्र, खगोल, गणित, भूमिति और बीजगणित का सामान्य ज्ञान होना चाहिए।

२१. सोलह वर्ष के बालक-बालिका को सीना, रसोई बनाना सीखना चाहिए।

तीसरा काल

२२. सोलह से पच्चीस तक का मैं तीसरा काल मानता हूं। इस काल में प्रत्येक युवक या युवती को उसकी इच्छा और परिस्थिति के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिए।

२३. नौ बरस के बाद शुरू होनेवाली शिक्षा स्वावलंबी होनी चाहिए, अर्थात् विद्यार्थी शिक्षा पाते हुए ऐसे धंधों में लगा हुआ हो, जिनकी आमदनी से पाठशाला का खर्च निकल आये।

२४. पाठशाला में आमदनी तो शुरू से ही होनी चाहिए, पर पहले बरस में वह पूरा खर्च निकलने-भर न होगी।

२५. शिक्षकों की तनख्वाह मोटी नहीं हो सकती, पर उन्हें पेट भरने-भर पैसा मिलना चाहिए। उनमें सेवावृत्ति होनी चाहिए। प्राथमिक शिक्षा के लिए चाहे जैसे शिक्षक से काम चला लेने का रिवाज निंद्य है। शिक्षक मात्र को चरित्रवान होना चाहिए।

२६. शिक्षक के लिए बड़े और खर्चीले मकानों की जरूरत नहीं है।

२७. अंग्रेजी की पढ़ाई एक भाषा के रूप में होनी चाहिए और उसे शिक्षणक्रम में स्थान मिलना चाहिए। हिंदी जैसे राष्ट्रभाषा है, वैसे अंग्रेजी का उपयोग परराष्ट्रों के साथ व्यवहार तथा व्यापार करने के लिए है।

स्त्री-शिक्षा

२८. स्त्रियों की विशेष शिक्षा का रूप क्या हो और वह कबसे आरंभ होनी चाहिए, इस विषय में यद्यपि मैंने सोचा और लिखा है, पर अपने

विचारों को निश्चयात्मक नहीं बना सका। इतनी तो मेरी पक्की राय है कि जितनी सुविधा पुरुष को है, उतनी ही स्त्री को भी मिलनी चाहिए और जहां विशेष सुविधा की आवश्यकता हो, वहां वैसी सुविधा मिलनी चाहिए।

प्रौढ़-शिक्षा

२६. प्रौढ़ वय को पहुंचे हुए ऐसे स्त्री-पुरुषों के लिए, जो निरक्षर हैं, वर्ग (क्लास) की जरूरत तो है ही, पर उन्हें अक्षर-ज्ञान होना ही चाहिए—यह मैं नहीं मानता। उनके लिए व्याख्यान आदि के द्वारा सामान्य ज्ञान पाने की सुविधा होनी चाहिए और जिन्हें अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो, उनके लिए इसकी पूरी सुविधा होनी चाहिए।

खंड १२ : : साहित्य और कला

१

साधारण टीका

१. साहित्य और कला को सत्य, हितकर और उपयोगिता की कसौटी पर पास होना ही चाहिए।

२. सत्य को यहां व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। तफसील अथवा घटनाओं की सत्यता के अर्थ में नहीं, किंतु सिद्धांत अथवा आदर्श की सत्यता के अर्थ में लेना चाहिए। मिसाल के तौर पर, हो सकता है कि हरिश्चंद्र या राम की कथा केवल काल्पनिक हो, पर इस कथा से निकलनेवाले सिद्धांत और आदर्श सत्य, हितकर और उपयोगी हैं, इसलिए इस कथा का साहित्य उक्त कसौटी पर पास हो जाता है।

३. घटनाएं और वर्णन सच्ची और हूबहू तस्वीर पेश करनेवाले हों, तो समुचित प्रकार का साहित्य या कला नहीं कहला सकते। बहुत-सी घटनाएं सत्य होने पर भी अहितकर और निरुपयोगी अथवा हानिकर होती हैं। उन्हें उपस्थित करनेवाला साहित्य और कला हानिकारक ही है—उदाहरणार्थ, वेश्या के घर का शब्दचित्र।

४. अक्सर सत्य, नीति, धर्म इत्यादि की अंतिम विजय बताते हुए भी उसके पहले के असत्य, अनीति, अधर्म आदि के चित्र ऐसे बीभत्स रूप में अंकित किये जाते हैं, जिससे लोगों की हलकी वृत्तियों को उत्तेजन मिलता है। ऐसा साहित्य और कला भी गंदी ही मानी जायगी।

२

साहित्य की शैली

१. कितना ही सत्य ऐसा होता है, जिसे विद्वान या जिन्हें वह परंपरा

से अवगत हुआ है, वही लोग समझ सकते हैं, फिर भी वह उत्कृष्ट होता है यह सत्य है। पर साधारणतः इसे साहित्य का गुण नहीं, बल्कि दोष ही समझना चाहिए। विशेष कारण न हो, तो साहित्य के उत्कृष्ट होते हुए भी साहित्यकार को जन-साधारण के समझने योग्य भाषा काम में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

२. इसमें अपवाद हो सकते हैं जिनमें से कुछ यहां दिये जाते हैं :

(अ) भाषा के सरल और सुबोध होते हुए भी विषय नया, असाधारण कठिन और गंभीर विचारयुक्त हो, तो वैसा साहित्य जन-साधारण दूसरे की सहायता के बिना न समझ सकें, यह हो सकता है। उदाहरणार्थ गीता की शैली इतनी सरल है कि साधारण संस्कृत पढ़ा मनुष्य भाषा की दृष्टि से उसे समझ सकता है, फिर भी साधारण मनुष्य संस्कृत जानते हुए भी उसका तात्पर्य ग्रहण नहीं कर सकता और उसे विद्वानों की टीकाओं का आश्रय लेना पड़ता है; कारण यह कि उसका विषय कठिन और विचार गहन हैं और केवल भाषाज्ञान के बल पर नहीं समझे जा सकते।

(आ) इसी तरह शास्त्रीय ग्रंथ भी, जिनमें विशेष पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार होता है, जैसे, तर्कशास्त्र, कानून या वैद्यक के ग्रंथ आम लोग न समझ सकें, तो यह उन ग्रंथों का दोष नहीं माना जायगा।

(इ) मनोरंजन के लिए रचित पहेलियों, समस्याओं, कबीर-जैसों के गूढ़ काव्यों, 'उलटी बानियों' वगैरह का अर्थ बहुत करके परंपरा से ही जाना जा सकता है। ऐसा साहित्य थोड़ा, ज्ञानदायक और निर्दोष हो, तो उसका कोई विरोध न करेगा।

(ई) पहले दो प्रकार के अपवादों में बताये गये साहित्य में से जन-साधारण के लिए जितना आवश्यक और उपयोगी हो, उतना सरल भाषा में प्रस्तुत कर देना भी जिन लोगों ने उन विषयों में प्रवीणता प्राप्त की है, उनका एक फर्ज है।

३
अनुवाद

१. दूसरी भाषा के उत्कृष्ट साहित्य का परिचय अपनी भाषा बोलनेवालों को करा देना भी साहित्य का एक उपयोगी अंग है।

२. अच्छे अनुवाद में नीचे लिखे गुण होने चाहिएं :

(अ) वह इतना सहज और सरल होना चाहिए, मानो स्व-भाषा में ही सोचा और लिखा गया हो। ऐसा नहीं कि जिस भाषा से अनुवाद किया गया हो, उस भाषा के रूढ़ि-प्रयोगों और शब्दों के विशेष अर्थ न जाननेवाले उसे समझ ही न सकें।

(आ) ऐसे रूढ़ि-प्रयोग या मुहावरे अनुवाद में देने ही पड़ें, अथवा मूल शब्द का भाव स्पष्ट करने के लिए शब्द गढ़ने पड़ें या ऐसे दृष्टांतों, रूपकों या दंत-कथाओं का उल्लेख करना पड़े, जिनसे अपनी भाषा बोलनेवाले लोग अपरिचित हैं, तो उन्हें समझाने के लिए टिप्पणी लगा देनी चाहिए।

(इ) वह कृति ऐसी मालूम होनी चाहिए मानो अनुवादक ने मूल पुस्तक को हजम करके फिर से स्व-भाषा में उसे रचा हो।

(ई) मूल पुस्तक जिन खूबियों के कारण प्रसिद्ध हुई और उत्कृष्ट मानी गई हो, वे गुण यदि अनुवाद में न आयें, तो वह अनुवाद निम्न कोटि का ही माना जायगा।

(उ) साधारणतः वह इतना प्रामाणिक होना चाहिए कि मूल पुस्तक के बदले उसका प्रमाण दिया जा सके।

३. इस कारण स्वतंत्र पुस्तक लिखने की अपेक्षा अनुवाद का काम सदा सरल नहीं होता। मूल लेखक के साथ जो पूरा-पूरा समभावी और एकरस नहीं हो सकता और जो उसके मनोगत भावों को पकड़ न पाय, उसे उसका अनुवाद नहीं करना चाहिए।

४. अनुवाद करने में भिन्न-भिन्न प्रकार का विवेक करना होता है। कुछ पुस्तकों का अक्षरशः अनुवाद करना आवश्यक माना जा सकता है; कुछ का सारमात्र दे देना काफी समझा जायगा; कुछ का भाषांतर उन्हें ऐसा जामा

पहनाकर करना चाहिए जिससे अपने समाज की समझ में आ जायं, कितनी ही पुस्तकें ऐसी होती हैं कि अपनी भाषा में उत्कृष्ट मानी जाने पर भी हमारा समाज अतिशय विभिन्न होने के कारण हमारी भाषा में उनके अनुवाद की आवश्यकता नहीं होती। कुछ पुस्तकों का अक्षरशः उल्था होने के बाद सार-रूप अनुवाद भी आवश्यक माना जा सकता है।

४

वर्ण-विन्यास

१. हिंदुस्तानी में[1] वर्ण-विन्यास (हिज्जे) के विषय में कुछ अराजकता-सी मच रही है। यह ठीक नहीं है।

२. भाषा की वृद्धि के साथ-साथ व्याकरण और वर्ण-विन्यास के नियमों में थोड़ा-बहुत फेर-फार होता रहे, यह बात समझ में आ सकती है; फिर भी साधारण व्यवहार के शब्दों और उनके रूपों का व्याकरण तथा वर्ण-विन्यास के नियम निश्चित हो जाने चाहिएं।

३. कुछ इने-गिने शब्दों के वर्ण-विन्यास के बारे में हरएक भाषा के विद्वानों में कुछ मतभेद हो सकता है। लेकिन साधारण शब्दों के बारे में विद्वानों को उचित है कि वे जनता को एक ही प्रकार का वर्ण-विन्यास स्वीकार करने की सलाह दें।

४. वैसी सलाह देते समय प्रचलित रूढ़ि, लिखने तथा छापने का सुभीता, उच्चारण के नियम तथा व्युत्पत्ति—इन सभी बातों पर यथायोग्य ध्यान देना चाहिए और कहीं एक को तो दूसरी जगह दूसरी को महत्व देने की आवश्यकता समझनी चाहिए। इस विषय में यह दृष्टि रखनी चाहिए कि साधारण जनता हिज्जे के बारे में उलझन में न पड़े।

५

अखबार

१. अखबार, मासिक-पत्र आदि भी साहित्य-कार्य के अंग हैं, जन-

[1] गांधीजी ने यह बात गुजराती के विषय में कही है, पर यह हिंदी-हिंदुस्तानी पर भी पूरे तौर से घटित होती है। —अनुवादक

साधारण को शिक्षित बनाने के एक जबरदस्त साधन हैं।

२. पर इस साधन का अतिशय दुरुपयोग किया गया है। लोगों को सच्ची खबरें और अच्छी सलाह देने के बदले जान-बूझकर झूठी, आधी सच्ची आधी झूठी या अधूरी खबर देकर अथवा सच्ची खबर को गलत दृष्टि-बिंदु से प्रस्तुत करके उन्हें गलत रास्ते पर ले जाने का काम समाचार-पत्रों द्वारा बाकायदा किया जा रहा है।

३. विज्ञापनों द्वारा द्रव्य प्राप्त करने के लोभ में ये अनेक प्रकार के झूठ और अनीति फैलाने का साधन बन रहे हैं।

४. जिस व्यक्ति को पढ़ने का शौक हो और फुर्सत भी हो, पर गप्पें मारकर जल्दी वक्त गुजारने के लिए कोई संगी-साथी न हो और इससे उसका जी ऊब रहा हो, उसे ऊबने देने में कोई हर्ज नहीं। कुछ देर ऊबते रहने के बाद फिर वह कोई काम खोजकर उसमें लग जायगा। पर केवल फुर्सत का वक्त काटने के लिए ही निकला हुआ पत्र, मासिक या किस्से-कहानी की किताब लेकर बैठेगा, तो उससे मनोरंजन का तो आभास-मात्र होगा, अधिक समय परोक्ष रीति से गप्पें हांकने, यानी आलस में ही बीतेगा और अधिकतर वह अपने मन को हीन भावनाओं से चलायमान कर लेगा एवं कुसंस्कारों को पोसेगा। पत्रों, मासिकों और उपन्यासों से अनेक युवक-युवतियां विकार की व्यवस्था में पड़े और कुमार्ग में प्रवृत्त हुए पाये गये हैं। ऐसे प्रकाशन जला देने योग्य ही माने जाने चाहिएं।

५. पत्र या लेखन के व्यवसाय में सिर्फ उसी मनुष्य को पड़ना चाहिए, जिसे यह निश्चय हो गया हो कि उसे अपना अथवा दूसरे किसीसे प्राप्त कोई सच्चा, हितकर और उपयोगी संदेश देना है। उसे सत्य पर दृढ़ता से आरूढ़ रहना चाहिए और अपने खिलाफ जानेवाली सच्ची बातों और शिकायतों को भी प्रकाशित करना चाहिए तथा अपनी भूलों को शुद्ध भाव से स्वीकार करना चाहिए। विज्ञापनों से अपना खर्च निकालने के लोभ में नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि अपनी उपयोगिता सिद्ध करके ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि लोकप्रियता के बल पर ही उसका खर्च निकल सके। इसके लिए

केवल मुट्ठी भर लोगों की आवश्यकताओं की ही नहीं, बल्कि समस्त जनता अथवा आम लोगों की आवश्यकताओं और विषयों की चर्चा करनेवाला होना चाहिए।

६

कला

१. प्रकृति के सौंदर्य के सामने मानव-निर्मित सब कलाओं का सौंदर्य तुच्छ है। आकाश और पृथ्वी का सौंदर्य कला-रसिक को आनंद देने के लिए काफी है। उस कला का स्वाद जो नहीं ले सकता, वह यदि मनुष्य-निर्मित कला का शौकीन समझा जाता हो, तो वह मोहक दृश्यों को ही कला समझनेवाला होगा। सच्ची कला का उसे ज्ञान नहीं है।

२. सच्ची कला अच्छे साहित्य की भांति विचारों को उपस्थित करने का साधन है और साहित्य की शैली के संबंध में जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे यथोचित रूप से कला पर भी घटित होते हैं।

३. कला का संबंध नीति, हितकरता और उपयोगिता से नहीं है, केवल सौंदर्य से ही है—यह कहना सौंदर्य और कला को न समझने के जैसा है। सत्य ही ऊंची-से-ऊंची कला और श्रेष्ठ सौंदर्य है और वह नीति, हित-करता तथा उपयोगिता से रहित नहीं हो सकता।

४. अतः कला का स्थान मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी साधन-सामग्रियों में होना चाहिए और कला के कारण वे पदार्थ सुंदर लगने के अतिरिक्त अधिक अच्छी तरह काम देनेवाले भी होने चाहिएं।

५. जिस कला के पीछे प्राणियों पर जुल्म, उनकी हिंसा, उत्पीड़न आदि हों, उसमें बाह्य सौंदर्य कितना ही हो, तो भी वह कला कलि अथवा शैतान का ही दूसरा नाम है।

६. जो कला मनुष्य की हीन वृत्तियों को उभारती और भोगों की इच्छा को बढ़ाती है, वह कला गंदे साहित्य की श्रेणी में ही समझी जायगी।

खंड १३ : : लोकसेवक

१

लोकसेवक के लक्षण--सामान्य

१. लोकसेवक वह माना जायगा, जिसने निर्वाह के लिए कोई धंधा करना ही चाहिए — इस खयाल से जनता की सेवा का काम न उठाया हो, बल्कि जनता की सेवा करना ही उसके मन की मुख्य अभिलाषा हो।

२. अपना सारा समय जन-सेवा में देते रहने के कारण वह अपना निर्वाह उस काम के लिए स्थापित संस्था से ही कुछ लेकर करे, तो इसमें कोई दोष नहीं है। और ठीक तौर से काम होने के लिए ऐसे लोक-सेवकों की आवश्यकता रहती है।

३. पर लोकसेवक के निर्वाह की नीति दूसरे सेवकों की अपेक्षा भिन्न होनी चाहिए। वह अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने की लालसा से इस काम में नहीं पड़ा है, इसलिए वह अपने वेतन में वृद्धि की आशा न रखे और अपने पर दूसरों के निर्वाह की जिम्मेदारी न बढ़े, इसका भी यथा-संभव खयाल रखे। इसके सिवा उससे कुछ प्रत्यक्ष अथवा भावी आशाओं के त्याग की अपेक्षा भी रखी जा सकती है। कुछ बचा रखने की नीयत से वह अपना वेतन तय न करे, बल्कि यह विश्वास रखे कि अड़चन के समय ईश्वर उसे देगा ही।

४. मैंने कुछ त्याग किया है अथवा जनता का सेवक या आजीवन सेवक बन गया हूं, इस बात का जिसे भान या अभिमान रहा करता है, वह लोकसेवक होते हुए भी क्षुद्रता का परिचय देता है।

५. लोकसेवक नम्रता की पराकाष्ठा कर दे—'शून्य' बनकर रहें। वह दूसरे वेतनभोगी सेवकों अथवा दूसरे व्यवसायों के उपरांत सेवा का

काम करनेवाले लोगों से अपनेको श्रेष्ठ न माने और उनसे बड़ा दर्जा पाने का प्रयत्न न करे।

६. लोकसेवक को अपनी किसी स्वार्थमय—जैसे यश, अधिकार इत्यादि की—महेच्छा की पूर्ति के लिए जन-सेवा के कार्य में नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि धर्म की भाषा में कहें, तो लोकसेवा द्वारा ईश्वरोपासना होगी, इस श्रद्धा से, अथवा व्यवहार की परिभाषा में कहें, तो अपने देश-बंधुओं को कुछ अधिक सुख के मार्ग में बढ़ाने में निमित्त बनने की इच्छा से पड़ना चाहिए।

७. अतः जनता का सेवक अपनी मधुरता और नम्रता से जनता और अपने साथियों का मन हरण कर ले, अपने कार्य-क्षेत्र में जो कुछ सफलता मिले, उसका यश अपने साथियों को दे एवं खुद की हुई सेवा के बल से ही उसका प्रेमपात्र बने।

८. निःस्वार्थ, नम्र, सच्चा और चारित्र्यवान लोकसेवक लोकप्रिय न हो गया हो, ऐसा नहीं देखा गया है। उलटा यह अनुभव है कि जिसपर विश्वास जम गया हो, वह लोकसेवक अपने कार्य-क्षेत्र में लगभग सर्वाधिकारी बन जाता है और जनता उसकी बात मुंह से निकली नहीं कि मान लेती है। वह किसीकी अप्रीति या ईर्ष्या का पात्र नहीं होता, न किसीको कष्ट देनेवाला मालूम होता है।

९. जनता या दूसरे साथी अथवा नेता या स्वयंसेवक-मंडल से बाहर के कार्यकर्ता कृतघ्न हैं अथवा कार्य में विघ्नरूप हैं—जिस सेवक को बार-बार ऐसा प्रतीत होता हो, खुद उसमें ही कोई भारी दोष है, यह बात वह पक्की माने; क्योंकि ऐसा अनुभव है कि जनता साधारणतः कृतज्ञ ही नहीं, बल्कि बड़ी उदारता से लोकसेवक की कद्र करनेवाली होती है।

१०. जनसेवक में नीचे लिखे गुण होने चाहिएं :

(अ) वह धार्मिक वृत्तिवाला होना चाहिए, अर्थात् उसे सत्याग्रह, सत्कर्म, सद्वाणी और सद्वर्तन में पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। इसके लिए उसमें लगन, भूल होने की अवस्था में पश्चात्ताप और इसीमें अपना और

जनता का श्रेय है, यह दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए।

(आ) उसका चरित्र इतना विशुद्ध होना चाहिए कि स्त्रियां उसके पास निर्भय होकर जा सकें और लोगों को उसे स्त्रियों के पास जाने देने में संकोच न मालूम हो।

(इ) उसका आर्थिक व्यवहार सर्वथा शुद्ध होना चाहिए। कितने ही लोग बड़ी रकमों में तो ईमानदार होते हैं, पर 'दमड़ी-छदाम के चोर' होते हैं। कितने पाई का हिसाब तो सही-सही देते हैं और बड़ी रकमों में गोल-माल करनेवाले होते हैं। लोकसेवक को इन दोनों आक्षेपों से परे होना चाहिए और अपनी मार्फत आई हुई पाई-पाई का उसे ठीक-ठीक हिसाब रखना चाहिए।

(ई) उसे सतत उद्योगी होना चाहिए। जो गप-शप, फालतू बातों, निंदा-स्तुति में अपना समय बिताता है, वह सेवक कभी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। उसकी उद्योगशीलता ऐसी होनी चाहिए कि लोगों में उसकी छाप बैठ सके।

(उ) समय-पालन की आदत उसे अवश्य होनी चाहिए। जिस कार्य के लिए जो समय तय हो, उसमें चूक न होनी चाहिए।

(ऊ) इसका अर्थ यह हुआ कि उसे सदैव नियमों का ठीक तौर से पालन करते रहना चाहिए। सुबह से रात तक की उसकी क्रिया घड़ी की सुई की भांति यथाक्रम चलती होनी चाहिए।

(ए) इसके सिवा अपनी संस्था के सिद्धांतों और नियमों का पालन उसे लगन के साथ करना और अपने प्रधान की आज्ञा का ठीक-ठीक पालन करनेवाला होना चाहिए। जो आज्ञा-पालन करना नहीं जानता, वह आज्ञा-पालन कराने की पात्रता कभी प्राप्त नहीं कर सकता।

(ऐ) लोकसेवक को अपने देह-गेह की चिंता ईश्वर को सौंपकर निर्भयता प्राप्त करनी चाहिए। लोकसेवा के लिए अपने धन, प्राण, कुटुंब, सुख, सुविधा, स्वतंत्रता इत्यादि का त्याग करने की पहली जिम्मेदारी उसे अपने सिर ले लेनी चाहिए। और जब जरूरत आ पड़े, तब जोखिम उठा-

कर भी जनता के कार्य में पड़ना चाहिए।

(ओ) लोकसेवक को खुद तो बहुत ही साफ-सुथरा रहना चाहिए; फिर भी अस्वच्छ लोगों से मिलने-जुलने और अस्वच्छता हटाने के काम करने में उसे घिन नहीं लगनी चाहिए।

(औ) उसे अपना रोजनामचा (डायरी) लिखने की आदत रखनी चाहिए और उसमें अपने दैनिक कर्मों का यथावत् उल्लेख करना चाहिए।

(अं) ईश्वर-स्मरण से दिन का आरंभ करके, रात को सारे दिन के कार्य का सिंहावलोकन तथा उसपर मनन करके और ईश्वर-स्मरणपूर्वक नींद की गोद में जानेवाला लोकसेवक लोकसेवा करते-करते श्रेय को ही प्राप्त होगा।

(अः) ऐसा सेवक विचार करके इस नतीजे पर पहुंचेगा कि उसे ब्रह्मचर्य धारण करके रहना चाहिए; और जबसे उसे इस बात का निश्चय हो जाय, तबसे उसे इस दिशा में प्रयत्नशील हो जाना चाहिए।

२
ग्रामसेवक के कर्तव्य

१. ग्रामसेवक का पहला धर्म ग्रामवासियों को सफाई की शिक्षा देना है। इस शिक्षण में व्याख्यान और पत्रिकाओं की बहुत कम आवश्यकता है, अर्थात् यह पदार्थ-पाठ के द्वारा ही दी जा सकती है। ऐसा करते हुए भी धीरज की आवश्यकता तो रहेगी ही। ग्रामसेवक के दो दिन सेवा करने से लोग अपने-आप काम करने लग जायेंगे, यह नहीं मान लेना चाहिए।

२. ग्रामसेवक ग्रामवासियों को एकत्र करके पहले उन्हें उनका धर्म समझायें। फिर गांव से ही कुदाली, फावड़ा, टोकरी या डोल और झाड़ू— इतनी चीजें जुटाकर सफाई का काम शुरू कर दें।

३. रास्तों की जांच करके पहले मल को टोकरी में फावड़े से इकट्ठा कर ले और उस जगह को धूल से ढक दे। जहां पेशाब हो, वहां भी फावड़े से ऊपर की गीली धूल उठाकर उसी टोकरी में डाल ले और उसपर आस-पास

से साफ धूल बखेर दे।

४. मैला किसान के लिए सोना है। उसे खेत में डालने से उसकी बढ़िया खाद बनती है और फसल बहुत अच्छी होती है। अतः किसान को समझाकर यथासंभव किसीके खेत में मैले को करीब ९ इंच गहरा गाड़ दे; इससे अधिक गहरा नहीं गाड़ना चाहिए। मैला गाड़कर गड्ढे को मिट्टी से भर देना चाहिए।

५. मैले की व्यवस्था के बाद कूड़े की व्यवस्था करनी चाहिए। कूड़ा दो तरह का होता है—(१) खाद के लायक, जैसे गोबर, मूत्र, साग-तरकारी के छिलके, जूठन, आदि; (२) लकड़ी, पत्थर, टीन, चिथड़े इत्यादि।

६. खाद के योग्य कूड़ा अलहदा एकत्र करके मैले की तरह, पर अलग गड्ढे में, गाड़ना चाहिए या घूर की जगह डालना चाहिए।

७. दूसरा कूड़ा उन गड्ढों में डालना चाहिए, जिन्हें भरना हो और गड्ढा भर जाने पर मिट्टी बिछाकर गड्ढे को चौरस कर देना चाहिए। ऐसे कूड़े में से लकड़ी के छिलके, दातुन के चीरे आदि धो और सुखाकर ईंधन के काम में ले सकते हैं।

८. घूर के पास सस्ते पाखाने बनाने का जिक्र पहले (आरोग्य-खंड में) किया जा चुका है। जहां ऐसी व्यवस्था हो, वहां किसान जबतक इस प्रकार इकट्ठे हुए मल को हिस्से के मुताबिक बांट लेना न सीख लें, तबतक ग्राम-सेवक को रास्ते की तरह ही घूर को भी साफ करना चाहिए।

९. गांव के रास्तों को पक्का और अच्छा बनाने के उपाय करना ग्राम-सेवक का काम है। स्थानिक परिस्थिति के अनुसार ये उपाय भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। गांव के बड़े-बूढ़े कभी-कभी इसमें सलाह दे सकते हैं।

१०. सफाई से फुरसत पाने के बाद ग्रामसेवक को आवश्यक औजार और साधन लेकर गांव में चलनेवाले चरखे, धनुष, ओटनी आदि की जांच के लिए निकलना चाहिए। जहां दुरुस्ती की जरूरत जान पड़े, वहां कर दे और करना सिखा दे। नवसिखुओं के काम की जांच करके उन्हें उचित सूचनाएं दे। नये उम्मीदवारों को अलहदा समय देकर उन्हें शिक्षा दे। इसके

लिए गांव में जिस वक्त साधारणतः ये काम चलते हों, उसी समय जांच के लिए निकलना चाहिए।

११. कताई, बुनाई या दूसरे धंधों की व्यवस्था ग्रामसेवक के द्वारा होती हो, तो उसके लिए समय निश्चित करके लोगों को उसी समय आने की आदत डलवानी चाहिए और उस बीच माल की जांच करके उसमें जो सुधार आवश्यक हों, वे सुझाने चाहिएं।

१२. ग्रामसेवक कम-से कम दिन में एक बार ऐसे समय, जो ग्रामवासियों के अनुकूल हो, उन्हें एकत्र करके सामूहिक प्रार्थना करे। वह लोगों की समझ में आने योग्य भाषा में होनी चाहिए। ग्रामसेवक को संगीत का ठीक ज्ञान होना वांछनीय है। यदि उसे गाना न आता हो, तो गांव के अच्छा गा सकनेवालों से भजन, धुन, वगैरह गवाये और दूसरों को उनमें शामिल करे। अधिकांश गांवों में भजन-मंडलियां होती हैं; उन्हें नये और अच्छे भजन सिखाकर प्रार्थना में उनका प्रयोग करना चाहिए।

१३. प्रार्थना के बाद लोगों को अखबारों से उपयोगी बातें, अच्छे लेख, पुस्तकें, धार्मिक ग्रंथ या कथाएं कह या पढ़कर सुनानी चाहिएं।

१४. ग्रामसेवक नीचे लिखी सूचनाओं को ध्यान में रखें :

(अ) गांव में दलबंदी हो, तो वह खुद किसी दल में न मिले, किंतु तटस्थ रहकर सबकी एक-सी सेवा करे और सबसे समान मित्राचार रखे तथा अपने प्रभाव से कुछ हो सकता हो, तो उस दलबंदी को मिटाने का प्रयत्न करे।

(आ) साधारणतः जहां मिठाइयां वगैरह खिलाई जानेवाली हों, ग्रामसेवक वहां का निमंत्रण स्वीकार न करे। ग्रामवासी ग्रामसेवकों के प्रति अपनी ममता दिखाने के लिए भिन्न-भिन्न निमित्तों के बहाने उन्हें निमंत्रण दिया करते हैं और ग्रामसेवक उनका मन न दुखाने के खयाल से उन्हें स्वीकार करने लगता है। पर इससे बहुतेरे ग्रामसेवक स्वाद-लोलुप हो जाते हैं और ऐसे घरों तथा अवसरों की खोज में रहते हैं और मिष्टान्न के न्योते मांगने में भी नहीं हिचकते। ग्रामसेवक को याद रखना चाहिए कि

ऐसे खर्च खुशहाल समझे जानेवाले ग्रामवासी भी अपने सामर्थ्य के बाहर ही करते हैं और मेहमान का खर्च ग्रामवासियों पर इतना अधिक होता है कि मेहमानों को सादा खाना खाने का रिवाज डालना सिखाना जरूरी है। इस कारण ग्रामसेवक को चाहिए कि मिष्ठान्न के निमंत्रणों को न स्वीकार करे और कहीं करना ही पड़े, तो साधारणतः मिठाई खानेवाला होते हुए भी वहां उसे सादा भोजन ही स्वीकार करने का आग्रह रखकर मिष्ठान्न का त्याग करना चाहिए।

(इ) ग्रामसेवक को अपने खाने-पीने की आदतें वहुत ही सादी रखनी चाहिएं, जिससे गरीव-से-गरीब घर को भी उसकी सुविधा के लिए दौड़-धूप या खास तैयारी न करनी पड़े।

(ई) ग्रामसेवक को संयमी और तप-व्रतमय जीवन बिताना चाहिए। पर जिसे ग्रामसेवा करनी हो, उसे अपने व्रत देहात की हालत का खयाल करके लेने चाहिएं, अन्यथा व्रत भी स्वच्छंदता बन जायेंगे और ग्रामवासियों के लिए परेशानी पैदा करनेवाले हो जायेंगे। उदाहरणार्थ, कोई ग्रामसेवक शक्कर छोड़े और दूध में शहद मांगे, चाय छोड़े और कहवा या मसाले का काढ़ा चाहे, तो ये व्रत पूर्वोक्त दोषों के पात्र हो जायेंगे।

खंड १४ : : संस्थाएं

१

संस्था की सफलता

१. किसी भी संस्था की सफलता नीचे लिखी शर्तों पर अवलंबित रहती है :

(अ) संस्था के उद्देश्य के प्रति अत्यंत वफादारी-भरी निष्ठा और उसकी सिद्धि के लिए उत्साह होना।

(आ) संस्था के नियमों का स्थूल पालन ही नहीं, बल्कि उसके भाव का पालन होना।

(इ) संस्था के संचालक, सभ्य, सेवक आदि कार्यकर्ताओं में भ्रातृ-भाव और एकमत्य होना।

२. इन तीन में से एक शर्त भी न पाली जाती हो, तो दूसरी अनुकूलताओं के रहते भी वह संस्था सप्राण नहीं बनती।

२

संस्था का संचालक

१. संस्था का संचालक ही संस्था का प्राण कहा जा सकता है।

२. उद्देश्य के प्रति उनकी निष्ठा और उत्साह, उसका नियम-पालन, दूसरे सभ्यों के प्रति उसका व्यवहार, उसकी उद्योगशीलता—इन सबपर संस्था की सफलता बहुत-कुछ अवलंबित रहती है।

३. संचालक को अपने अधिकार का गर्व अथवा संस्था के दूसरे सभ्यों के प्रति अनादर या अरुचि रहती हो, तो वह संस्था को धक्का पहुंचायगी।

४. जैसे अच्छा सेनापति नियम-पालन कराने में बहुत आग्रही और

सख्त होने पर भी अपने सिपाहियों का प्रेम-संपादन करने की चिंता और उनका अभिमान रखता है, वैसे ही संस्था के संचालक को भी होना चाहिए।

५. संचालक की निगाह संस्था की छोटी-से-छोटी बातों पर भी रहनी चाहिए। उस संस्था में रहनेवाले मनुष्यों तथा प्राणियों के सुख-दुख की वैसी ही चिंता रखनी चाहिए, जैसे माता बच्चे की रखती है।

६. संचालक मौका आने पर अपने अधिकार का उपयोग करे, फिर भी अपने मन में अपने मातहत लोगों के साथ समानता अथवा साथीपन का ही संबंध माने और छोटे-से-छोटे आदमी को भी अपना मित्र ही समझे। वह यह माने कि मेरा संचालकपन मेरी विशेष योग्यता के कारण नहीं है, बल्कि मेरे प्रति मेरे साथियों के पक्षपात या आदर के कारण ही है।

७. इससे वह छोटे-से-छोटे व्यक्ति की सूचना को भी आदरपूर्वक सुनेगा और उचित होने पर उसे स्वीकार करने को तैयार रहेगा तथा अनुचित लगने पर उसका अनौचित्य समझाने का प्रयत्न करेगा।

८. संचालक को कान का कच्चा न होना चाहिए। वह किसीके विषय में जल्दी प्रतिकूल मत न बनाये, बल्कि प्रतिकूल राय कायम करने में दीर्घ-सूत्रता दिखाये और स्पष्ट प्रमाण के बिना वैसी राय न बनाये।

९. संचालक अपने अधीन काम करनेवालों में से किसीपर विशेष प्रेम न दिखाये, किसीके साथ पक्षपात न करे और एक को हीन ठहराने के लिए दूसरे का बखान न करे।

१०. नियमों का ठीक-ठीक पालन कराने के लिए व्यवहार या वाणी में कठोरता लाने या सजा देने की जरूरत नहीं। ऐसी जरूरत समझनेवाले संचालक अपने में योग्यता की कमी होने का सबूत देते हैं।

३

संस्था के सभ्य

१. जिस संस्था के सभ्यों में परस्पर भ्रातृभाव और आदर नहीं है, वह संस्था अधिक समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें शाखाएं और

दलबंदियां हो जायेंगी और उसके सदस्य संस्था के मूल उद्देश्य को भूल-कर एक-दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने में ही लग जायेंगे।

२. जिस संस्था के सभ्य अपने से ऊपरवालों की आज्ञा का पालन करने के लिए सहर्ष तत्पर न रहते हों, वह अधिक समय तक तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें आलस्य और ढीलापन आ जायगा और सभ्य प्रमाद में पड़ जायेंगे।

३. संचालक और सभ्यों में केवल स्थूल ही नहीं, बल्कि मानसिक सहयोग भी होना चाहिए, अर्थात् सभ्यों के लिए संचालक की इच्छा या आज्ञा के अधीन होना ही काफी नहीं है, बल्कि उस इच्छा या आज्ञा का औचित्य वे मानते हों, तो इस तरह व्यवहार करना चाहिए मानो खुद ही उन्होंने अपने मन से वह काम करने का निश्चय किया हो।

४. जिस नियम या आज्ञा के औचित्य के विषय में सभ्यों को इतमी-नान न हो, उसके बारे में उन्हें संचालक के साथ स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए और जबतक समाधान न हो जाय, तबतक संचालक के मन में ऐसा भाव न उत्पन्न होने देना चाहिए कि समाधान हो गया।

५. ऐसा नियम या आज्ञा अगर सत्य या धर्म के विपरीत न मालूम होती हो, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से ही अनुचित लगती हो, तो उसके औचित्य के बारे में समाधान न होने पर भी उसका पालन करना चाहिए और यदि वह सत्य और धर्म के विरुद्ध मालूम हो, तो संस्था छोड़ने तक के लिए तैयार रहना चाहिए।

६. वह नियम या आज्ञा सत्य या धर्म के विरुद्ध न हो, पर अपनी कमजोरी के कारण उसका पालन कठिन जान पड़ता हो, तो संस्था की भलाई के लिए सभ्य का उसे छोड़ देना ही इष्ट माना जायगा।

७. सभ्यों में परस्पर मतभेद हो जायं, किसीके आचरण के विषय में शंका हो या उससे अपने को असंतोष हुआ या दुख पहुंचा हो, किसीकी नीयत के बारे में अपने मन में बदगुमानी हुई हो, तो वैसे हरएक मामले में सबसे पहले उस आदमी से ही बातचीत करके सफाई कर लेनी चाहिए।

अगर इससे सफाई न हो और उसके बारे में हमारी राय कायम रहे या अधिक दृढ़ हो जाय, तो उसकी सूचना उसके या अपने तात्कालिक अफसर को दे देनी चाहिए और मुनासिब कार्रवाई करने का भार उसे सौंप देना चाहिए।

८. उस व्यक्ति के साथ स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किये बिना उसके संबंध में ऊपर के अधिकारी या किसी दूसरे से जिक्र करना, अथवा अधिकारी को जताये बिना सर्वोच्च अधिकारी तक बात पहुंचा देना अनुचित है।

९. अपने मन में किसीके बारे में इस प्रकार कोई बुराई आ गई हो, तो तुरंत उसकी सफाई कराने के बदले उसे मन में रखे रहना और ऊपर के अधिकारी को जताने की आवश्यकता उपस्थित होने पर भी उसे न बताना संस्था में गंदगी इकट्ठी होने देना है।

१०. जिस संस्था में सभ्यों के दोषों की अंदर-ही-अंदर कानाफूसी चलती रहती हो, फिर भी अफसरों तक उसकी बात न पहुंचती हो और जिसके संबंध में बातें होती हों, उसके साथ स्पष्टीकरण भी न किया जाता हो, वह संस्था तेजस्वी नहीं रह सकती। उसमें पाप, दंभ, असत्य और झूठी लज्जा प्रवेश करके उसको निष्प्राण बना डालेंगे।

४

संस्था का आर्थिक व्यवहार

१. धन के अभाव में कोई सच्चा काम अटक जाने की बात हमें नहीं मालूम।

२. पूंजी इकट्ठी करके उसके व्याज से खर्च चलाने की प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। संस्था के संचालकों में यह दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि जिस संस्था का जनता के लिए उपयोग है, उसके निर्वाह के लिए पैसा मिलकर ही रहेगा।

३. यह सही है कि जबतक उस संस्था की उपयोगिता के विषय में लोगों को विश्वास न हो जाय, तबतक संचालकों को अधिक मेहनत करनी

पड़ेगी ; पर वह मेहनत उनकी तपश्चर्या और सेवा का ही भाग मानी जानी चाहिए ।

४. इसके बाद तो इतनी मदद मिलती रहती है कि अनेक संस्थाओं की निष्प्राणता का कारण उनके पास होनेवाला अर्थसंचय ही हो जाता है । इस कारण आदर्श संस्था को धन एकत्र कर रखने के फेर में नहीं पड़ना चाहिए ।

५. आमतौर से देखा जाता है कि सार्वजनिक पैसे से चलनेवाली संस्थाओं में कमखर्ची की ओर काफी ध्यान नहीं दिया जाता । यह बड़ा दोष है । हिंदुस्तान जैसे गरीब देश की सेवा करनेवाली संस्थाओं को बहुत ही किफायत से चलना चाहिए ।

६. संस्था का हिसाब-किताब ठीक और साफ रखने पर आमतौर से ध्यान देना चाहिए । पाई-पाई का हिसाब महाजनी-पद्धति से रखना चाहिए और प्रमाणभूत हिसाब-परीक्षकों से उसकी जांच कराते रहना चाहिए ।

●

'मंडल' का सर्वोदय-साहित्य

१. सर्वोदय

२. सर्वोदय-विचार

३. सर्वोदय-योजना

४. स्वतंत्रता की ओर

५. गांधीवादी संयोजन के सिद्धांत

६. अहिंसा की कहानी

७. सर्वोदय-संदेश

८. अहिंसा की शक्ति

९. सर्वोदय की बुनियाद : शांति स्थापना